होगा वो तब भगवत्कथा का श्रवण करंगे इसका उत्तर देते हैं कि, मनुष्यों में यों भी समझ अल्प (थोड़ी) है वह भी कुकथाओं के श्रवण से नाश हो जाती है। तब सच्चे साधन नष्ट हो जाने से वे दुष्ट कथाएँ, जहां कोई शरण (रक्षक) नहीं ऐसे तमोरूप दैत्यों के स्थानों में दूर से ही फेंक देती है, ऐसी दशा खेद जनक दिखाने के लिए हन्त' पद दिया है। बड़े कष्ट से सुनी हुई फिर दुःख देने वाली होतो है, 'तान्तान्' (उनको उनको) दु ख देने वाली होती है यों दो बार कहने का आशय है कि दुष्ट कथाओं को सुनने वाले किसी को भो सद्गति नही हुई है, दुष्ट कथाऐं सुनते ही श्रोता को तमोरूप स्थानों में फेंक देती है। मनन आदिकी भी अपेक्षा नहीं करती है मुक्ति की तरह कोई भी वहां सहायक नही, उनकी दुष्ट कथा सुनने वालों की) वहां स्थिति ही इस बीच में कौन जाने क्या हो जाय ? ऐसे बहुत हैं इसलिए बहुवचन दो बार 'तान्तान्' कहा है ॥२३॥

आभास—एवं तामसानां दोषवतां तत्रागमनपूर्वकं तमःप्रवेशमुक्त्वा राजसानामूद्ध्वार्धोगतिरहितानां मध्ये परिभ्र-मणेन क्लेशं दृष्ट्वा शोचन्नाह-

आभासार्थ–इस प्रकार दोष वाले तामस जीव वहां (सद्गति में) न जाकर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं यों कहकर अब इस श्लोक में राजस जीवों को गति न उध्र्व (ऊंची) होती है और न नीची होती है बीच में ही भटकते रहते हैं उनका क्लेश देखकर शोक प्रदर्शित करते हैं–

श्लोक—**येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र ।**
नाऽऽराधन भगवतो वितरन्त्यमुष्य संमोहिता विततया ननु ! मायया ते ॥२४॥

श्लोकार्थ––जिस मनुष्य योनि में ज्ञान धर्म सहित तत्व विषय को जाना जा सकता हैं उस मनुष्य देह को प्राप्त कर भी भगवद्भजन नहीं करते हैं वे उस (भगवान्) की फैलाई हुई माया में मोहित हुए हैं ॥२४॥

सुबोधिनो––**येऽभ्यर्थितामपीति**। **ये नृगतिं प्रपन्ना भगवत आराधन न वितरन्ति, ते निश्चयेन अमुष्यमायया मोहिताः**। नृगतिं मनुष्यत्वम्। तस्या दुर्लभत्वमाह—**नोऽभ्यर्थितामिति**। ब्रह्मादिभिरपि नृगतिः प्रार्थ्यते, सर्वस्याऽपि प्रकृतिरूपत्वात्। यथा कनकात्सर्वमेव कुण्डलादिक भवति, न तु कुण्डलात्। अत एव ब्रह्मादीनामपि नृगतिः प्रार्थ्या। न इति षष्ठी संबन्धमात्रविवक्षया, नृगतेर्वैलक्षण्य प्रतिपादनार्था या नृगतिर्ब्रह्मत्वं संपादितवति, नाऽऽसुरीति यावत्। षष्ठ्या सूचितं विशेषमाह—**ज्ञानं च तत्त्वविषयमिति**। यत्र नृगतौ **तत्त्वविषयं ज्ञानं** तत्त्वज्ञानं भवति। ब्रह्मज्ञानं सुलभम्, तद्भावापन्नानां प्रापञ्चिकपदार्थानां वैदिकानां वा ज्ञानं दुर्लभम्। **तत्त्वविषयमिति** विषयपद तत्त्वेन ज्ञानं वारयति। तदा बाधित स्वरूपमेव ज्ञातं स्यात्। तद्वैत्यज्ञानेऽपि

तुल्यम् । चकारात्स्वरूपज्ञानम् । **सहधर्मेति** धर्मज्ञानसहितम् । एवमपि सति भगवत आराधनाभावो मायाकार्यं एव । वितरणं नाम मर्यादाव्यतिरेकेण दानम्, तथा सर्वेन्द्रियैः सर्वथा सर्वदा भगवद्भजनम्, न तु स्मार्तवत् पूजामात्रं सकृदाराधनं वा । मायामोहः शास्त्रेण निवर्तयितुं शक्यत इति दृष्टेऽपि शास्त्रे यदि वितरणम्, तन्मायामोहकार्यं न भवतीत्याशङ्कयाऽऽह—**विततया नन्विति** कोमलसंबोधनेन नाऽत्रान्यथाकथनं शङ्कनीयमिति ज्ञापितम् । सा हि वितताशास्त्रेऽप्यन्याबुद्धिं संपादयति । साऽपि मायाविन एव, सृष्ट चर्थं मोहाभावात् ॥ २४ ॥

व्याख्या--जो जीव मनुष्यत्व को पाकर भी भगवान् का भजन नहीं करते हैं वे इनकी (भगवान् की) माया से मोहित हो गये हैं । मनुष्य योनि की प्राप्ति दुर्लभ है क्योंकि सर्व योनियों में उत्तम है इसमें भगवत्प्राप्ति की जा सकती है अतः ब्रह्मादि भी मनुष्य होना चाहते हैं, कारण कि समस्त (ब्रह्मादि) भी प्राकृत हैं जैसे स्वर्ण से सर्व प्रकार के कुण्डलादि आभूषण बनते हैं, कुण्डल्न से आभूषण नहीं बनते हैं इस कारण ही ब्रह्मादि भी मनुष्य योनि की प्राप्ति चाहते हैं, 'नः' यह षष्ठी केवल सम्बन्ध को बताने वाली मनुष्य योनि की विलक्षणता प्रतिपादन करने के लिए हैं, जिस मनुष्य योनि से ब्रह्मत्व प्राप्त किया जाता है वह आसुरी नहीं है ।

'न' षष्ठी से जो विशेष कहा उसको 'ज्ञानं च तत्त्व विषयं' पद से कहते हैं, जिस मनुष्य योनि में तत्त्वज्ञान प्राप्त किया जाता है ब्रह्मज्ञान सुलभ है । ब्रह्मभाव को प्राप्त प्रापञ्चिक पदार्थों का और वैदिक कर्मों के स्वरूपों का ज्ञान होना दुर्लभ है, । 'तत्त्व विषयं' वाक्य में विषय पद से जताते हैं कि, तत्त्व से ज्ञान नहीं होता है, यदि होवे तो वाधित स्वरूप (असत्ज्ञान) को ही जाना जावे, तत्त्व तरीके का ज्ञान दैत्यों के ज्ञान में भी समान है । 'च' पद से स्वरूप का ज्ञान होना प्रकट किया है । धर्म सहित ज्ञान होने पर भी यदि भगवद्भजन न हो तो वह माया का कार्य है । 'वितरणं' से कहते हैं । जिसमें दान (कार्य-सेवा) करने की सीमा न होवे, सारांश यह हैं कि सर्वथा (सर्व प्रकार से) सर्वदा सदैव) भगवान् का भजन करते रहना न कि स्मार्तों की तरह केवल पूजन करना अथवा एक बार आराधना करना वितरण नहीं है ।

माया का मोह शास्त्र ज्ञान से दूर किया जाता है वह (शास्त्र ज्ञान) होने पर भी यदि भगवद्भजनादि न होता हो तो इसको माया का कार्य कैसे कहा जाय ? इस पर कहते हैं कि 'विततया' अर्थात् माया सर्वत्र फैली हुई है जिससे शास्त्रज्ञान होते हुए भी आराधन नहीं होता है । क्योंकि यह शास्त्र में भी अन्यथा बुद्धि करा देती है यह माया भी मायावियों (असुरों) को मोह कराने वाली है, सृष्टि के लिए यह माया मोह नहीं कराती है ॥२४॥

आभास—तत्र गमने साधनमाह—

आभासार्थ—निम्न श्लोक में वैकुण्ठ में जाने का साधन कहते हैं—

स्लोक—यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभनुवृत्या दूरेहमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुरागवैकक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ।।२५ ।।

श्लोकार्थ—हे इन्द्र! अहङ्कार छोड़कर, जब भक्त जन परस्पर प्रभु के सुयश का गान करते हैं तब उत्पन्न प्रेम से ऐसी विह्वलता होती है, जिससे उनके रोम रोम से हर्ष के आँसू निकलते हैं जिनसे भीतर का तापादि शांत होता है और वे सत्यलोक से ऊपर के लोक (वैकुण्ठ) में जाते हैं ॥ २५ ॥

सुबोधिनी—यच्च व्रजन्तीति । चकाराद्यापिवैकुण्ठम । यद्वैकुण्ठं हरेरनुवृत्त्या व्रजन्ति **हे अनिमिषामृषभेति** इन्द्रसंबोधनम् । तस्य भगवदनुकम्पयैवेन्द्रत्वप्राप्तिः । सर्वदुःखहर्तुरित्यनुवृतौ केल्शाभावः । विमानदर्शनं भगवदानतिमात्रेणाऽपि भवति, प्राप्तिश्च । स्वतो वैकुण्ठगमनं तु हरेरनुवृत्त्यैव । आनतिरेव वाऽनुवृतिः । अन्यार्थं तत्रानुकार्तनात् पुनः स्वावसरे कीर्तनम् । तस्या अनुवृत्तेरत्र निदर्शनमाह—**दूरेहमा इति** । अहङ्कारस्तेषां दूरे । हीति भगवद्भजनस्य दोषनिवर्तकत्वात् तदा अहङ्कारलक्षणों दोषो निवर्तत एव, अनिवृत्तौतु भजनं नास्तीत्यवगन्तव्यमिति बोधयति । **नउपरि व्रजन्तीति** सत्यलोकोपरि स वैकुण्ठलोको वर्तत इति बोधितम् । ये निरन्तरं हरेरनुवृत्ति कुर्वन्ति, ते शुद्धसात्त्विकस्वभावा भवन्तीति नः स्पृहणीयं शीलं येषाम्, तादृशा भवन्ति, अत एव न उपरि गच्छन्ति । यद्यपि वयमपि हरेरनुवृत्तिच कुर्मः, तथाप्यस्माकं न तदेकस्वभावः, अत एव न दूरेहमाः । अत एव तेषां शीलं स्पृहणीयम् । तेषां परिज्ञानार्थं लक्षणमाह—**भर्तुरिति** । स ह्यत्रापि परिपालकः, तेन देहादिनिर्वाहचिन्ताऽपि तेषां नास्ति अन्यथा निर्वाहोऽपि न भवेदिति च । **मिथ इति** रसाविर्भावार्थमुक्तम् । **सुयशस इति** विषयोत्कर्षः । लौकिकानामपियशः कीर्त्यते, यशः कीर्तने धर्मो भवतीति । इदं पुनर्यशो धर्मज्ञानभक्तिजनकत्वात् सुयशो भवति, अत एव कथनेऽनुरागः । कथानुरागेणैव कथयन्ति, न तु निर्बन्धे न फलान्तरेण वा कथनम् । सोऽप्यनुरायोनासक्तिमात्रम्, किन्तु सफलं सलक्षणं चेत्याह— **वैक्लव्येति** । अनुरागेण शरीरे वैक्लव्यं जायते, सर्वकार्या समर्थं भवति, इदं फलम् । लक्षणद्वयमाह—**वाष्पकलया पुलकीकृताङ्गा इति** । वाष्पाणां कला उत्तरोत्तराभिवृद्धिः । अन्तः स्थितो भगवदानन्दः सर्वमेव संसारतापं बहिः करोति, तदांतस्य वाष्पा मुखतो निःसरन्ति, तेषां कलया सह । तथैव कलया प्रकाशमाना रोमाञ्चयुक्ताङ्गाश्च भवन्ति । अतो वैकुण्ठगतानां दोषः शङ्कनीयोऽपि नेत्यर्थः ॥ २५ ॥

'च' शब्द से व्यापि वैकुण्ठ का सूचन किया है। जिस वैकुण्ठ में, हरि को सर्वथा दैन्य पूर्वक नमन करने से एवं अनुसरण करने से ही जाना होता है, 'हे अनिमिषांऋषभः' पद का अर्थ हे देवों के स्वामी इन्द्र ! उसको भगवत्कृपा से ही इन्द्र पद की प्राप्ति हुई है, सर्व दुःखों के हर्ता का अनुसरण करने से क्लेशों का अभाव हो जाता है, विमानदर्शन एवं प्राप्ति केवल भगवान् को प्रणाम करने से भी होती है, किन्तु वैकुण्ठ में स्वतः जाना तो भगवान् के अनुसरण करने से ही होता है। यह भगवान् का अनुसरण करता है जिसका प्रमाण (सबूत) अहङ्कार निवृत्ति है भगवदनुसरण करने वाले से अहङ्कार दूर रहता है कारण कि भगवद्भजन दोषों को मिटाने वाला है अतः अहङ्कार दोष मिट जाता है। यदि अहङ्कार न मिटा होता तो भजन नहीं हो सकता।

वैकुण्ठ हमारे लोक (सत्यलोक) से ऊपर है यों जताया है। जो लोग निरन्तर भगवद्भजन करते हैं वे शुद्ध सात्विक स्वभाव वाले होते हैं इसलिये हम भी ऐसे स्वभाव के होने की इच्छा करते हैं, इसलिये हो हमसे अर्थात् हमारे लोक से ऊपर (वैकुण्ठ में) जाते हैं, यद्यपि हम भी भगवद्भजन करते हैं तो भी हमारा स्वभाव उनके समान नहीं है, इसलिये ही हमसे अहङ्कार नष्ट नहीं हुआ है, इस कारण से ही उनका स्वभाव चाहने योग्य है, उनके जानने के लक्षण कहते हैं, भर्तुः' वह प्रभु यहां भी पालन करते हैं अतः वे देहादि के निर्वाह की चिन्ता नहीं करते हैं, यदि वह पालन नहीं करे तो निर्वाह भी न होवे, 'मिथः' पद से यह बताया है कि आपस में मिलकर भगवद्भजन करने से इसका आविर्भाव (प्राकट्य) होता है, 'सुयशसा' विषय की उत्तमता दिखलाई है, लौकिक मनुष्यों का भी यशोगान किया जाता है, यशोगान से धर्म होता है। फिर यह यश (भगवान् का यश) तो धर्म, ज्ञान और भक्ति को उत्पन्न करने वाला है जिससे सुयश होता है। इसलिये ही उसके कहने में अनुराग होता है, भगवत्कथा अनुराग (प्रेम) के कारण ही की जाती है न किसी के दबाव से या फल की प्राप्ति के लिये की जाती है, वह अनुराग भी केवल आसक्ति रूप नहीं, किन्तु सफल और लक्षणों वाला है 'वैलक्व्येति' अनुराग से शरीर में विकलता होती है जिससे सत कार्य करने में असमर्थता हो जाती है। यही फल है, 'लक्षणद्वयमाह' दो लक्षण कहते हैं '१- वाष्पकलया २- पुलकीकृताङ्गा इति' अनुराग से विकलता होने पर अश्रुओं की धाराओं का बहना बढ़ता ही रहता है, भीतर स्थित भगवान् का आनन्द, सर्व प्रकार के संसार ताप को बाहर निकाल देता है तब उसके आंसू रोम रोम से कलासहित निकलने लगते हैं, उस कला से ही प्रकाशित अङ्ग रोमाञ्चवाले हो जाते हैं, अतः जो वैकुण्ठ गये हैं उनमें दोष है ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये ॥२५॥

आभास— एवं नवभिर्निर्दुष्टे वैकुण्ठे स्वतो निर्दुष्टाः सनकादयः परमं दोषं कृतवन्त इति महदाश्चर्यमिति वक्तुमाह—

आभासार्थ—इस तरह नव श्लोकों में सिद्ध किये हुवे दोष रहित वैकुण्ठ में निर्दोष सनकादि ने महान् दोष किया यह महान् आश्चर्य है यों निम्न श्लोकों में कहते हैं—

स्लोक– तद्वि श्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः ।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योगमायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम् ।।२६।

श्लोकार्थ— जब सनकादि मुनि विश्व गुरु हरि के आधिपत्य वाले और सकल लोक वन्दनीय तथा श्रेष्ठ देवों के विचित्र विमानों से सुशोभित उस अपूर्व दिव्य वैकुण्ठ में अपनी योग माया के बल से पहुंचे तब वे बहुत प्रसन्न हुए । ।। २६ ।।

सुबोधिनी–**तदिति । तद्वैकुण्ठं योगमायाबलेनाऽऽपुरिति** सबन्धः। भक्त्यैव गतं तत्स्थानं हितकरं भवति, न तु स्वयोगबलेन गतम् । तत्रापि सर्गकर्त्री या योगमाया, तया सृष्टयर्थं नीताः कथमनर्थं करिष्यन्तीति भावः । तत् भक्त्यैव गन्तव्यमिति वक्तुं विशेषणमाह—**विश्वगुर्वधिकृतमिति** । विश्वगुरुणा वेदादिप्रवर्त्तकेन अधिकृतमधिष्ठितम् । गुरोः स्थाने धाष्टर्चेन न गन्तव्यम्, नापि रिक्तहस्तादिना । किञ्च, तत्स्थानं **भुवनैकवन्द्यम्**, न तु पदा आक्रमणीयम् । तथा च सत्यनर्थो भवेदेव । किञ्च, **दिव्यं** तदलौकिकम्, लौकिकप्रकारेण न गन्तव्यम् । अत एव विरक्तानामपि लौकिकदृष्टया गमने दोषोत्पत्तिः । किञ्च, **विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः** । विचित्राणि यानि विबुधाग्र्याणां विमानानि, तैः शोचिः कान्तिर्यस्य । ब्रह्मादयोऽपि तत् स्थानं पदा अस्पृष्ट्वा अलौकिकानि विमानान्यारुह्य अधस्तात् स्थितास्तस्योत्कर्षं संपादयन्ति । विमानानां विचित्रता छन्दोमयत्वादिना । न हि तादृशं यथाकथञ्चिद्गन्तव्यम् । एवं चतुर्विधोत्कर्षसहितम्, विकुण्ठं कदापि भङ्गरहितम्, स्थानमुपेत्यमुदमापुः । तस्याऽलौकिको धर्मस्तैरपि प्रत्यक्षीकृत इत्यर्थः ।।२६।।

व्याख्या— सनकादि ने वह वैकुण्ठ योगमाया के बल से प्राप्त किया, यों वाक्य का सम्बन्ध (अन्वय) है । वह स्थान जब भक्ति से प्राप्त किया जाता है तब कल्याण कारी होना है अपनी योगमाया बल से प्राप्त करने पर हितकर नहीं होता है, फिर योगमाया जो इनको (सनकादिकों) सृष्टि के लिये लाई और जो स्वयं सृष्टि करने वाली है वे कैसे अनर्थ करेंगे ? यों भाव है, वह धाम भक्ति द्वारा ही प्राप्त करने के योग्य है यों कहने के लिये विशेषण कहते हैं 'विश्वगुर्वधिकृतं' वेदादि के प्रवर्त्तक विश्व गुरु ने अपने अधिकार में लेलिया है, अतः वह स्थान गुरु का है वहां धृष्टता से (अभिमान से) नहीं जाना चाहिये और खाली हाथ नहीं जाना चाहिये और विशेष वह स्थान 'भुवनैकवन्द्यं' सब लोकों का बन्दनीय लोक है अतः वह पैरों से आक्रमण करने (फिरने के) योग्य नहीं है, यों किया जाता है तो अनर्थ होगा ही, किञ्च अन्य विशेषता दिखाते हुए कहते हैं कि 'दिव्य' वह अलौकिक धाम है, जिससे वहां लौकिक प्रकार से नहीं जाना चाहिये, इस कारण से यदि

विरक्त भी लौकिक प्रकार से जाते हैं तो उनमें भी दोषों की उत्पत्ति होती है किञ्च 'विचित्रविबुधाग्र्य विमान शोचिः' जिस धाम की शोभा देवों के विचित्र सुन्दर विमानों से फैल रही है, ब्रह्मादि कभी उस स्थान का पैरों से स्पर्श न होने के लिये अलौकिक विमानों में बैठ उसके नीचे (बाहर) ही खड़े रहते हैं जिससे उत्कर्ष प्रकट करते हैं, विमानो की विचित्रता वेदमय होने से है, ऐसे उत्तम स्थानों में जिस तरह भी चाहें उस तरह नहीं जाना चाहिये। ऐसी चतुर्विध उत्कर्ष वाला धाम वैकुण्ठ कभी भी नाश नहीं होता है ऐसे अलौकिक वैकुण्ठ को प्राप्त हो के सनकादि प्रसन्न हुए, उसके (वैकुण्ठ के) अलौविक धर्मं का सनकादि ने प्रत्यक्ष अनुभव किया, यो सारांश है ॥२६॥

आभास-- सा हि योगमाया भगवता सृष्टयर्थमाज्ञप्ता स्वयं सृष्टिं तद्दर्शनार्थं भगवन्तमाकारयितुं भीता तद्द्वारपालकावुपायेन तत्र नेतुं मुनीनानीतवती बलात्। भगवता तयोर्द्वारपालकत्वं दत्तम्। तौ चेद्भूमिपालकौ भवतः, तदा भूमिर्द्वारं भवेत् तदा भूमिमध्यात् द्वारत्वसिध्यर्थं भगवानाविर्भवेत्, तदा स्वकृत्यं पश्येत् इति गूढाभिप्रायः। तानानीय यत्कर्तव्यं तत्कृतवतीत्याह—

आभासार्थ—उस योगमाया को भगवान् ने सृष्टि की उत्पत्ति करने की आज्ञा दी उसने वह आज्ञा शिरोधार्य कर सृष्टि रचना की, अनन्तर योगमाया को यह इच्छा हुई कि भगवान् पृथ्वी पर पधार कर मेरी रची सृष्टि को देखे जिसके लिये भगवान् को साक्षात् कहने में तो डरी किन्तु उसने इसका यह उपाय किया कि आपके द्वारपालों को पृथ्वी पर लाने के लिये मुनियों को अपने बल से बहां ले गई, भगवान् ने वैकुण्ठ में जिनको द्वारपाल बनाया था वे यदि पृथ्वी के पालक बने तो पृथ्वी वैकुण्ठ का द्वार हो जावे, तब भूमि द्वार बन जायेंगी तो भगवान् वहां से प्रकट हो जायें और मेरागे कृत्य देखलेंगे। माया का इनको लाने में यह गुप्त अभिप्राय था उनको (मुनियों को) लाकर जो कराना था सो करने लगी यह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम्।
देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्यकेयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ—आनन्दमग्न हुवे वे वैकुण्ठ धाम की छः ड्यौढियां तो बिना रुकावट के पार करके जब वे सातवीं पर पहुँचे तब वहां उन्हें दो समानवय वाले देव श्रेष्ठ दिखाई दिये, जो बाजूबन्द, कुण्डल और किरीट आदि अमूल्य आभूषणों से सुसज्जित थे एवं हाथ में गदा लिये द्वार पर खड़े थे ॥२७॥

सुबोधिनी—तस्मिन्नतीत्येति । **तस्मिन्** वैकुण्ठे **षट् कक्षा अतीत्य मुनयः सप्तमायां देवावचक्षतेति संबन्धः** । मुदमपि प्राप्य, तन्माहात्म्यं स्पष्टमप्यनुभूय, मायामोहवशात् तौ क्रोधदृष्टचा दृष्टाविति । **कक्षा** रक्षकसहितद्वाराणि । तत्र विरक्तत्वादैश्वर्यादिषड्गुणप्रतिपादिका वैराग्यान्ता अतीताः, भक्तिः सप्तमी । भक्ताश्चेत्तदप्यतिक्रम्य गच्छेयुः, तदभावात्तत्र रक्षकौ दृष्टौ । **असङ्गमाना इति** षट्कक्षातिक्रमे हेतुः । **समानवयसाविति** बृद्धिक्षयहेतुकालाभावयुक्तौ, वैकुण्ठे कालस्याऽनियामकत्वात् । कालस्य तुल्यत्वेन तत्प्रेर्यकर्मस्वभावयोरपि तुल्यता । **अथेति** भिन्नप्रक्रमे । तेषामप्यसज्जमानता गता, एतयोरपि पूर्ववदनिवारकत्वं गतम् । **सप्तमायामिति** । नेयं पूरणी कक्षेति ज्ञापनार्थं डीप्प्रत्ययाभावः । सप्तम्यप्येषा प्रथमा भवति । तत्राऽत्ययो नाऽस्तीति साधिकरणत्वेन निर्दिष्टा । **देवाविति** वस्तुत एतेषामप्युपास्यौ, एते मनुष्याः । तथापि **मुनय इति** तेषां तत्र गमनम् । किञ्च, एतौ गृहीतगदौ । **आसन्य** एतदधीनः तेन दैत्यनिवारणसमर्थौ । ततस्तयोराज्ञाकरणे कृतार्था एव भवन्ति । किञ्च, भगवत्सारूप्यमपि प्राप्तौ । तावनुवर्णयति-पराध्यर्येति । पराध्यर्यानि केयूरकुण्डलकिरीटानि हस्तकर्णशिरोभूषणानि । अनेन तयोः कर्माणि सिद्धानि सांख्ययोगौ ज्ञानं च । आसन्यस्तु तदधीन एवेति मृत्युदैत्यजयः स्वतः सिद्धः । तैरपि विटङ्कौ वेषौ ययोः । तैरलौकिकप्रकारेण भगवद्द्वारपालकयोग्यवेषौ । तयोः कर्मादिकमपि भक्त्युपयोगीत्यर्थः ॥२७॥

व्याख्या—उस वैकुण्ठ में वे मुनि छः डचोढियां पारकर सातवीं में जब पहुँचे तब दो देव (द्वारपर) खड़े देखे, यों अन्वय है. हर्ष भी प्राप्त कर और उसके (वैकुण्ठ) के माहात्म्य का भी स्पष्ट अनुभव कर, माया के मोहाधीन होने से उन (द्वारपालों) को क्रोध दृष्टि से देखने लगे, जो छ डचोढियां पार कर आये वहां भी द्वारपाल खड़े थे किन्तु उनको पारकर आये वहां रुकावट न हुई क्योंकि ये विरक्त थे वे छ डचोढ़ियां ऐश्वर्यादि षड्गुण वाली थी इसलिये वहां रुकावट की आवश्यकता नहीं थी यह सातवीं कक्षा भक्ति है यदि ये शुद्ध भक्त होते तो इसको भी पारकर जाते परन्तु भक्ति के अभाव से वहां देव (द्वारपाल) देखने में आये, ये कुमार आसक्तिरहित वैराग्य वाले थे इसलिये छ डचोढ़ियां पार करने में वैराग्य कारण था । 'समानवयसौ' का भाव है कि वैकुण्ठ में काल नियामक नहीं है, वृद्धि और क्षय करने वाले काल का वहां अभाव है, काल समान होने से काल से प्रेरित कर्म और स्वभाव की भी समानता है, 'अथ' पद देने का तात्पर्य है कि अब अन्य विषय का प्रारम्भ होता है । यहां पहुँचने पर मुनियों की विरक्तता नष्ट हो गई एवं द्वारपाल यहां आने वालों को पहले रोकते नहीं थे क्योंकि वे भक्त होते थे अतः अब यह कक्षा सातवीं न होकर पहली हो गयी है, अतः इसमें डीप प्रत्यय लगा कर 'सप्तमी' न कहकर 'सप्तमा' कहा है इसलिये यह उल्लङ्घन योग्य नहीं रहने के (ठहरने के) स्थान के समान हुई है, वे दो द्वारपाल देवश्रेष्ठ थे अतः कुमारों को भी पूज्य थे क्योंकि ये कुमार मनुष्य हैं वे देव हैं, किन्तु मनुष्य होते हुए मुनि होने के

कारण वहां जा सके, किन्तु इन देवों (द्वार-पालों) के हाथ में जो गदा है वह बताती है कि ग्रासन्य (प्राणरूप बल) हमारे हाथ में है, इसलिये ग्रभक्तों को व दैत्यों को रोकने में हम समर्थ हैं इसलिये इन देवों की ग्राज्ञानुसार मुनि चलें तो कृतार्थ हो जावे, ग्रौर इन दोनों देवों ने भगवत्सायुज्य भी प्राप्त कर लिया है, सायुज्य का वर्णन करते हैं, 'परार्ध्येति' हस्तकर्ण ग्रौर शिरोभूषण, केयूर हस्त भूषण, कुण्डल कर्ण भूषण ग्रौर किरीट शिर भूषण धारण किये हैं इससे इनके कर्म सिद्ध हैं (सांख्ययोग ग्रौर ज्ञान) ग्रासन्य (प्राण) तो इनके ग्राधीन है ही, इसलिये मृत्यु रूप दैत्य जय स्वतः सिद्ध है। इन कारणों से भी इनका वेष ग्रलौकिक है उन्होंने ग्रलौकिक प्रकार से भगवत् द्वार-पालकों के योग्य वेश पहना है। उनके कर्मादिक भी भक्ति के उपयोगी हैं। यों ग्रर्थ (तात्पर्य) है ।।२७।

श्लोक--मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ विन्यस्तयाऽसितचतुष्टयबाहुमध्ये ।
वक्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं दधानौ ।२८।

श्लोकार्थ--उन (द्वारपालों) की चार श्याम भुजाग्रों के मध्य में मत्त मधुकरों से गुंजायमान वनमाला सुशोभित हो रही थी, एवं बाँको भौहें, फड़कते हुए नासारन्ध्र ग्रौर लाल नेत्रों के कारण, उनके चेहरे पर कुछ क्षोभ के से चिन्ह दिखाई दे रहे थे ।२८।

सुबोधिनी—**मत्तद्विरेफेति। मत्तद्विरफवनमालिकया निवीतौ**। तयोश्चतुर्विधान्यपि कर्माणि सिद्धानि, उत्पत्तिस्थितिप्रलया मोक्षश्चेति लौकिकानि, वैदिकानि दिव्यानि, भगवदीयानि च, तैः संबद्धा तयोः कीर्तिर्वनमाला। तामनुवर्णयति। मत्ता ये द्विरेफा भ्रमराः। द्विरेफशब्दो रूढः, सर्वेषां शीघ्रप्रतीतेः. ग्रन्यथाप्रतीतौ बर्बरशब्दादिव्युदासोऽपि न प्रतीयेत। मत्तद्विरेफसहिता वनमाला। रेफोऽत्राग्नितेजः, लौकिकवैदिकाग्नितेजोवद्वेदसहिता वनमाला। सापि प्रेमसंबन्धान्मत्तभ्रमरैरिव संबद्धा। **वनमालिकयेति** ताभ्यां वनमालाशोभा। तया निवीतौ कण्ठलम्बितौ। सा कीर्तिस्तत्कर्म हितेति वक्तुमसितचतुष्टयबाहुमध्ये विन्यस्तयेत्युक्तम्। ग्रनेन तयोर्हृदये भगवान्, वनमाला, कमलम्. हस्तचतुष्टयम्, पत्राणीति निरूपितम्। एवंविधावपि, **वक्रं** कुटिलया भ्रुवा उपलक्षितम्, **स्फुटनिर्गमाभ्यां** श्वाससहिताभ्यां नासिकाभ्यां सहितम्, रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं क्रोधसहितं दधानौ। एतावद्रूपं भगवत्सारूप्यातिरिक्तं मायया कृतम्। वक्रं दधानाविति भक्तिमार्गनिष्ठौ। तत्र दोषत्रयं कामादिरूपम्। कुटिला भ्रूः क्रोधस्य सूचिका। नासिकाद्वयवायुरेते न प्रवेशनीया इत्यन्तःस्थितभगवद्दर्शनलक्षणमहाधनलोभेन चिन्तया श्रान्तयोः स्फुटं निर्गतो लोभस्य सूचकः। स्वस्याऽधिकारं

मत्वा, स्वयं पूर्णकामो भूत्वा, कामितः स पदार्थ एतेषां मा भवत्विति काममूलकक्रोधसूचकोऽक्ष्णोरारक्तिमा। त्रिभिर्दोषैः कृत्वा मनाग्रभसमुत्तरलं मुखम्। अत एतयोर्भक्तावन्तरायभूतं दोषत्रयं जन्मत्रयं संपादयिष्यति। मनाक् च संरम्भस्तदवहेलया ॥२८॥

व्याख्या--मत्त भ्रमरों से युक्त वनमाला को धारण किये हुऐ देवों को देखा, उनके चार प्रकार के कर्म सिद्ध से हो गये हैं, (१) उत्पत्ति, (२) स्थिति, (३) प्रलय और, (४) मोक्ष तथा लौकिक, वैदिक, दिव्य और भगवदीय भी उनसे संबद्ध हैं हो, उन दोनों की कीर्ति 'वनमाला' है उसका वर्णन करते हैं, मत्त जो दो रेफ वाले भ्रमर, 'द्विरेफ' शब्द रूढ है। सबको इसकी प्रतीति शीघ्र होती है, अन्यथा प्रतीति होने पर बर्बर शब्द जो दो रेफ वाला है उसका व्युदास भी न होवे, मत्तभ्रमरों सहित वनमाला, भ्रमर शब्द में जो रेफ है वह अग्नितेज का सूचक है, तात्पर्य यह है कि लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार की अग्नि के तेज के समान वेद सहित बनमाला है, वह भी प्रेम के सम्बन्ध से मत्त भ्रमरों से सम्बन्धित है, बनमातिकया' पद से यह बताया है इन दो से दो रेफ वालों (भ्रमरों) से बनमाला की शोभा थी वह जिन (द्वारपालों) के कण्ठ से लटक रही थी, उनके कर्म सहित वह कीर्तिरूप उनके श्यामल चार भुजाओं के मध्य में धरी हुई थी इससे यह सूचित किया है कि उन दोनों के हृदय पर भगवान् वन-माला, कमल और चार भुजाएं तथा पत्र (तुलसी पत्र) सुशोभित है।

यों होने पर भी बांकी भौंहें वाले, फड़कते हुऐ श्वासयुक्त नासिकापुट वाले लाल नेत्र से स्वल्प (थोड़े) क्रोध युक्त मुख को धारण कर रहे थे, यद्यपि भगवत्सायुज्य से जो रूप था वह यह नहीं था। यह रूप तो माया ने अपने गुण भाव को पूर्ण करने के लिये किया था, 'वक्रं' दधानौ' पद से सूचित किया है कि भक्तिमार्ग में निष्ठ (पक्के) स्थित थे इस समय इनमें माया ने तीन दोष प्रकट कर दिये बांकी भौंहे क्रोध प्रकट करती हैं देहस्थ भगवान् के दर्शन हमको ही होते रहे अन्य को नहीं इसलिये इनको भीतर नहीं जाने दिया जाय, अतः स्थित भगवान् के दर्शन रूप धन के महान् लोभ से उत्पन्न चिन्ता से थके हुऐ नासापुटों से बाहर निकल आने वाला वायु लोभ का सूचक था, भगवद्दर्शनानन्द के लेने का अधिकार हमारा ही है वह मुनिओं को प्राप्त न हो ऐसी कामना से उत्पन्न क्रोध का सूचन नेत्रों की लालास करती थी, इन तीन दोषों के कारण थोड़ा सा मुख कम्पायमान सा हो रहा था, ये तीन दोष ही भक्ति में प्रतिबन्ध रूप होने से इनको तीन जन्मों के चक्कर में डालेंगे और मुनिओं का तिरस्कार करने के कारण तो सहज कोध हुआ था वह पृथक था ॥२८॥

आभास—एवं तयोर्गुणदोषौ निरूप्य मुनीनां गुणदोषान् निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह देवों के गुण दोषों का निरूपण कर इस श्लोक में मुनियों के गुण दोषों का निरूपण करते हैं।

श्लोक – द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोःपृष्ट्वा पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिकायाः ।
सर्वत्रतेऽविषमया मुनयः स्वदृष्ट्या ये संचरन्त्यविहता विगताभिशङ्काः ॥२६॥

श्लोकार्थ—इन दोनों देवों के इस प्रकार देखते हुवे भी, वे मुनिगण, बिना पूछताछ किये हूऐ ही जैसे पहले के द्वारों में प्रवेश करते यहां आ गये वैसे अब निशङ्क हो हीरों से जड़ित सुवर्ण के कपाट वाले द्वार में प्रवेश कर गये क्योंकि वे समान दृष्टि वाले होने से प्रतिबन्ध सहित सर्वत्र आते जाते रहते थे ॥२६॥

सुबोधिनी द्वार्येतयोरिति । ज्ञानमार्गे अविषमदृष्टि, शङ्काभावः, मननम् आत्मज्ञानं चेति चत्वारो गुणाः । ते यदि भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकास्तद्धर्मेष्वादरयुक्ताः, तदा भक्तिमार्गेऽपि गुणा भवन्ति । लौकिकदोषनिवृत्त्यर्थमेव ते ज्ञानमार्गे गुणत्वेनोक्ताः । अधिकृतयोरुल्लङ्घनम्, भगवत्स्थानस्य सामान्यदर्शनम्, अन्तरङ्गबहिरङ्गयोस्तुल्यतया ज्ञानम्, तद्गतासाधारणगुणागणनं च चत्वारो दोषाः । तेन दैत्ययोनिः,स्वरूपज्ञानाभावः, बहुकालं गर्भवासक्लेशः, यातना चेत्यनिष्टचतुष्टयं फलितम् । दोषाणां प्राबल्यान्मार्गान्तरगुणा अप्यत्र निवृत्ताः, तेन क्लेशो न दोष श्च । एतयोर्मिषतोरेव सतोस्तावविगणय्य । द्वारि अन्तरङ्गभूतायां निविविशुः : अपृष्ट्वेति । किं भगवान् करोति, अवसरोऽनवसरो वेति प्रष्टव्यम्, तदपृष्ट्वा प्रविष्टा इत्यर्थः पूर्वद्वारो यथा प्रविष्टाः, तथेयमपि द्वाः । पुरटवज्रकपाटिकाया इति द्वारमाहात्म्यम् । पुरटं सुवर्णम्, तत्सहिता ये वज्रा हरिकाणि, तैरेव निर्मितौ यस्याः, कपाटिके वा । एवं पूर्वार्द्धे दोषा निरूपिताः । मार्गान्तरस्थान् गुणानाह-सर्वत्रेति । ते अविषमया दृष्ट्या चरन्ति, अत एव केनाघ विहता इति, स्वस्मिन् विद्यमानयपि ज्ञानं परस्मिन् कार्यं सम्पादकीमति, सानु भावं निरूपितम् । अत ऐव विगताभिशङ्काः । विगता अभितः शङ्का येषाम् । ब्रह्माविदश्चेत् तदा दोषो न भवेत् तत्रैवैते गुणत्वेनोक्ताः । एते त्वात्मविदः स हि चिद्रूपं ब्रह्म । तत्रापि मननपर्यन्तं व्यापृताः । तदप्यात्मरूपं न सर्वदा तेषामनुभवविषयः । तत्र स्वरूपधर्मयोर्मध्ये परिक्चेद धर्मस्य बलिष्ठत्वात् परिच्छेद अहङ्काररहितमेवाऽऽत्मज्ञानं गुणरूपम्, अन्यथा संसारिणामपि तत्सम्भवान्मोक्षः स्यात् । आत्मा हि भगवद्विभूतिरिति विभूतिमत्समीपे परधर्मास्त्यजतीति न तेषामन्यत्र प्रच्युतिः ॥२६॥

व्याख्या—ज्ञानमार्ग में ४ गुण होते हैं (१) समान दृष्टि, (२) शङ्का (भय) का अभाव (निर्भयता) (३) मनन और (४) आत्मा का ज्ञान (स्वरूप का ज्ञान) वे गुण यदि भगवान् के माहात्म्यज्ञान के साथ हैं और भगवान् के गुणों का आदर भी करते हैं तो भक्ति मार्ग में भी गुण रूप हो के रहते हैं अन्यथा अर्थात् यदि भगवान् के माहात्म्य के ज्ञान का न होना है और भगवान् के गुणों का आदर नहीं करना तो वे गुण ज्ञानमार्ग में इसलिये गुण कहे जाते हैं कि वे लौकिक

दोषों को निवृत्ति करते हैं (१) अधिकारीओं का उल्लङ्घन (२) भगवान् के स्थान को सामान्य स्थान समझना, (३) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग को समान जानना (४) अन्तरङ्ग के विशेष गुणों को ध्यान में न लाना, ये चार दोष थे।

इन दोषों के कारण, जो (दोष) बलवान् थे अतः मुनिओं में से ज्ञानमार्ग के गुण भी इस समय तिरोहित हो गये जिससे देवों को ऐसा शाप दिया कि (१) दैत्ययोनि, (२) स्वरूपज्ञानाभाव, (३) विशेष समय तक गर्भवासदुःख, और (४) यातना भोगोगे-इस शाप देने से इन (मुनिओं) को अन्त;करण में क्लेश हुआ किन्तु क्लेश दोष के लिये नहीं है।

इन दोनों देवों के देखते हुए इनकी अवगणना कर (तिरस्कार कर) अन्तरङ्ग द्वार में बिना पूछे प्रविष्ट हो गये, पहले पूछना चाहिये था कि इस समय भगवान् दर्शन देगें वा नहीं ? यों न पूछ अहङ्कार में आकर भगवान् क्या करेंगे ? हम ज्ञानी विरक्त मुनि हैं अवश्य दर्शन देंगे ही, जैसे पहले द्वार में प्रविष्ट हुवे इसको उनके समान समझ प्रविष्ट हो गये किन्तु यह हीरों से जड़ित सुवर्ण से बने हुए विशेष द्वार थे। यों पूर्वार्द्ध में मुनिओं के दोष कहे।

अब उत्तरार्द्ध में मार्गान्तर में (दूसरे मार्ग में) स्थित गुणों को कहते हैं 'सर्वत्र' इति, वे मुनि सर्वत्र समान दृष्टि से विचरते हैं, इस कारण से इनको कोई रोकता नहीं है, क्योंकि इनके भीतर रही हुई समान दृष्टि दूसरों से भी समता का कार्य कराती है इससे इनमें ऐसा प्रभावशाली ज्ञान है यों जताया है इसलिये 'विगता' पद से इनकी निर्भयता प्रकट की है, यदि ब्रह्म को जानने वाले हो तो तब दोष न होता, ब्रह्म ज्ञान में ही ये गुण कहे हैं ये तो आत्मवित् हैं वह आत्मा चिद्रूप ब्रह्म है उसमें भी ये मुनि मनन पर्यन्त पहुँचे हुवे हैं, आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध वाले वे मनन का भी अनुभव सदैव न था चिद्रूप और उसके धर्म के मध्य में जो सीमा है वह बलिष्ट है जिसको अहङ्कार कहा जाता है, अतः अहङ्कार रहित आत्मस्वरूप (चिद्स्वरूप) का ज्ञान ही गुणरूप है। यदि यों न होवे तो संसारियों को भी आत्मज्ञान होता ही है जिससे ही उनका भी मोक्ष हो जाना चाहिये, आत्मा भगवान् की विभूति है विभूतिवाले भगवान् व, ब्रह्म के समीप, पर धर्मों का त्याग करता है इसलिये उनकी अन्यत्र प्रच्युति नहीं अर्थात् वे पीछे आवागमन में नहीं आते हैं ॥२९॥

आभास—एवमेतेषां गुणदोषान्निरूप्य यथाक्रममतिक्रममाह--

आभासार्थ—इस तरह दोनों के गुण दोषों का निरूपण कर अब निम्न श्लोक से उनके किये अतिक्रम कर्म (अनुचित कर्म) का निरूपण करते हैं।

श्लोक—तान्वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान् वृद्धान् दशार्धवयसो विदितात्मतत्त्वान्।
वेत्रेण चाऽस्खलयतामतदर्हणांस्तौ तेजो विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ ।३०।

श्लोकार्थ—आत्मा के स्वरूप को जानने वाले, सबसे आयु में वृद्ध होते हुए भी ५ वर्ष के बालक जान पड़ते थे एवं वस्त्रविहीन थे ऐसे मुनि कुमारों को बिना आज्ञा लिये कक्ष में प्रविष्ट होते देख, भगवत्स्वभाव के शील से विपरीत भाव वाले उन देवों (द्वारपालों) ने उनके तेज का तिरस्कार कर जो रोकने के योग्य नहीं थे उनको वेंत से भीतर जाने से रोका । यद्यपि वे ऐसे अनुचित व्यवहार के योग्य नहीं थे ॥३०॥

सुबोधिनी— **तान्वीक्ष्येति** । तत्र प्रथमं द्वारपालकृतातिक्रमो निरूप्यते । तत्र तयोः सहजत्वात् तेषां निवारणे हेतुः- **वातरशनानिति** । ते हि दिगम्बराः, बालका अपि कटिसूत्रवन्तो भवन्ति । अत एवैषां रशनानिषेधः । भ्रान्ता इव तद्दृष्टया प्रतीताः । चत्वारोऽप्येकविधा इत्याश्चर्यमपि । कुमाराः पञ्चवार्षिकाः, कालेन तेषां शरीरस्य कौमारपर्यन्तमेव भोगः कृत इति । उत्पत्तिकालविचारे तु ते वृद्धाः, परार्द्धमितायुषो ब्रह्मकल्प एवोत्पन्नाः । अत एव दशार्द्धवयसः पञ्चवार्षिका इति केचित् । तेषां या मानुषदशा परार्द्धद्वयपरिच्छिन्ना तत्रार्द्धवयसः, एकस्य परार्द्धस्याऽतिक्रान्तत्वात् । तेषां ज्ञानवृद्धत्वमप्याह-**विदितात्मतत्त्वानिति** । विदितमात्मतत्त्वं यैरिति । वेत्रं लकुटविशेषः, चकारान्मुखेन च । **अस्खलयतामिति** यथा ते स्खलिता भवन्ति, यथा दण्डः प्रसारित इत्यर्थः एवं कर्तुमनुचितास्त इत्याह-**अतदर्हणानिति** । तत् स्खलनं नाऽर्हन्तीति । ते हि स्थिरीकृत्य वा प्रष्टव्याः, विज्ञापनेन वा अनवसरो ज्ञापनीयः । तदुभयमकृत्वा स्खलनमेव कारितवन्तौ । **ताविति** पूर्वोक्तौ दोषसहितौ निरूपितौ । **तेजो विहस्येति** । सर्वथा नाऽज्ञानात्तथा करणम्, किन्तु ज्ञात्वैव । यत्तेषां ज्ञानम्, सर्वपरित्यागलक्षणः स्वधर्मः, देहाद्यभिमानाभावश्च; स तेजः । तद्विहस्य । दोषत्वेन पाषण्डित्वेन वा तद्गणनं विहसनम् । तदविगणय्य । तेजःकृतं धार्ष्ट्यं च दोषं मत्वा । तत्र दण्डचिकीर्षा हास्ये हेतुः, न तु कौतुकमात्रम् । अत एव भगवतः प्रतिकूलं शीलं ययोः । अनेन स्वामिसेवकधर्मोऽपि तयोर्न सिद्ध इत्युक्तम् । गर्वस्तु भगवत्प्रतिकूलो धर्मः, दैत्यधर्मत्वात्, अत एव प्रतिकूलपदम् । **शीलमिति** तद्धर्मस्य दुर्लङ्घ्यता सूचिता ॥३०॥

व्याख्या—इसमें पहले द्वारपालों का अनुचित व्यवहार बताते हैं, वहां उन दोनों देवों का सहज स्वभाव वैसा होने से जो जो किया यह कहते हैं, पहला हेतु रोकने का यह था कि वे वस्त्ररहित (नंगे) थे अर्थात् उनकी वायु ही रशना (लंगोट) थी, बालक भी कटि (कमर) पर वस्त्र लंगोट लगाते हैं, इसलिए इनको वह भी नही है । देवों ने इनको ज्ञानी नही किन्तु भ्रान्त (पागल सा) समझा, चारों एक जैसे देखे इससे आश्चर्य भी हुआ कुमार पांच वर्ष के समझे जाते थे, क्योंकि काल ने उनकी इतनी ही आयु का भोग किया था, इनके जन्म के समय का विचार किया जावे तो ये वृद्ध हैं क्योंकि ब्रह्म कल्प में जन्मे हैं इसलिये आधो आयु भोग चुके हैं, पाँच वर्ष के हैं यों कोई

कहते है। वास्तव में परार्द्ध दय वाली जो इनकी आयु है उसकी आधी बीत जाने से ये वृद्ध हैं तथा ज्ञान से भी वृद्ध हैं क्योंकि चिद्रूप आत्म का स्वरूप हम हैं यों जान लिया है, जिससे आत्मविद् हैं।

ऐसे महा पुरुषों की मानमर्यादा का विचार न कर भीतर भगवद्दर्शनार्थ जाते हुए उनको बैंत की लकड़ी लम्बी करके रोका जिससे उनके गिर जाने का संभव था 'च' से यों समझा जाता है कि वाणी से भी निषेध किया, यों करने के वे योग्य नहीं थे क्योंकि मुनि आत्मवित् तथा वृद्ध (ज्ञानवृद्ध) थे अतः उनको ठहराकर पूछना चाहिये था कि ऐसी शीघ्रता क्यों कर रहे हो? अब दर्शन का समय नहीं है ये दो कर्तव्य न कर उनके गिराने का जिसमें तरीका था ऐसा जो कर्म रोकने के लिये किया वह अनुचित था, यों कहकर उन दोनों देवों को दोषी निरूपित किया है।

'तेजो' विहस्य' पद से यह सूचित किया है कि इन्होनें इस प्रकार जो रोकने का कार्य किया वह अज्ञान से नहीं किन्तु कुमारों के तेज की हँसी उड़ाते हुए किया है वास्तव में कुमार तो अपने तेज के प्रभाव से बिन पूछे भीतर प्रविष्ट हुवे थे, इसको न समझ एवं उनके ज्ञान, त्याग, स्वधर्म और देहादि के अभिमान का अभाव ही तेज है इसका विचार न कर, जो इनको दण्ड देने की इच्छा ही हास्य में हेतु थी न कि कौतुक मात्र। था ऐसा अनुचित कार्य इन्होने क्यों किया जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवत्स्वभाव से इनका शील मायाने विपरीत कर दिया था, इस कारण से इनमें इस समय स्वामी सेवक धर्म भी न रहा किन्तु द्वारपाल होने का गर्व उत्पन्न हुआ, वह (गर्व) दैत्य धर्म है जिससे इनको प्रतिकूल पद की प्राप्ति होगी। शील पद से सूचित किया है कि वह कठिनाई से बदलता है ३०।

आभास—एवं तयोरतिक्रममुक्त्वा मुनिकृतातिक्रममाह—

आभासार्थ—इस तरह उनका अतिक्रमण कर्म कह कर अब इस श्लोक में मुनियों के अतिक्रमण को कहते हैं—

श्लोक--ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाभ्याम
ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईषत्कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः ॥३१॥

श्लोकार्थ—जब देवों के देखते हुये द्वारपालों के रक्षकों ने उन पूजनीय सर्वश्रेष्ठ मुनिओं को अपने प्रियतम के दर्शन में भङ्ग डाला जिससे कामना निष्फल होने से काम के छोटे भाई क्रोध ने नेत्रों में आके निवास किया इस प्रकार क्रोधोत्पत्ति होनें से जो कुछ किया वह ३२ वें श्लोक में कहेंगे ॥३१॥

सुबोधिनी— ताभ्यामिति चतुर्थी। तयोरर्थे शापमूचुरित्यर्थः। शापमिति नोक्तम्, विचारपूर्वकमग्रे वक्ष्यमाणत्वात्, इदानीमविचारितत्वात्। क्रोधेन वचनमर्थाच्छापरूपं भवतीति ज्ञातव्यम्। अत एव निषिध्यमानाः, मैवं शापो देय इति। गमननिषेधस्तु कृत एवेति वर्तमानप्रयोगो नोपपद्येत। **अनिमिषेषु मिषत्स्विति** देवानामुभयत्र साक्षित्वं निरूपितम्। ते ह्यनिमिषाः सर्वसाक्षिणः। तैरेव निषिध्यमाना इति नैकट्यादवमीयते। तत्रत्यैः सर्वैरेव वा। ताभ्यामेव निषिध्यमाना इति **ताभ्यामिति** तृतीया वा। वस्तुतस्तु प्रवेशनिषेध एव ताभ्यां क्रियते, वर्त्तमानसामीप्येऽपि वर्तमानप्रयोग उपपन्नः। **सुष्ठु अर्हत्तमा** इति निषेधानौचित्ये हेतुः। अर्हाः सदाचाराः, तथापि यथाशास्त्रं परमहंसा अर्हत्तमाः, तत्रापि ज्ञानिनः **स्वहर्त्तमा** इति। तर्हि निषेधः कथं कृत इत्याशङ्क्याऽऽह - **हरेः प्रतिहारपाभ्यामिति**। सहि सर्वदुःखहर्ता अन्तःप्रवेश भगवदतिक्रमे महान् दोषो भविष्यतीति तेनैव भगवता प्रतीहारा द्वारपालका रक्षिताः सर्वत्र बहवः, तेषामेतावधिपती। अतो द्वारपालकानां रक्षार्थम्, तयोरपि रक्षार्थं निषिद्धा इत्यर्थः। तर्ह्यतेषां क्रोधे को हेतुः ? तत्राऽऽह-**सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग** सुति **ईषत् कामानुजेन क्रोधेन** त उपप्लुताक्षाः। तेषामात्मविदां सर्वत्राऽऽत्मबुद्धिरेव, भगवत्यप्यात्मबुद्धिः। भगवान प्यात्मविदिति सुहृन्मित्रम् तत्रापि तद्गुणैरन्तःकरणनैर्मल्यं भवतीति सुहृत्तमः, स्वस्याऽभीप्सितज्ञानसाधकत्वात्। तस्य **दिदृक्षितं** दिदृक्षा दर्शनेच्छा। यस्त्वस्मभ्यमेतावदुपकारं कृतवान् स द्रष्टव्य इति, फलस्य जातत्वात् साधने स्वल्पः कामः। दिदृक्षितस्य भङ्गे सत्यल्पत्वात् प्रतिबन्धे भङ्ग एव जातः, न त्वेतत्समाधानं कृत्वा पुनर्द्रष्टव्ह इतीच्छा तेषु स्थिता। अत एव ईषत्कामस्याऽनुजः। महति कामे प्रतिरुद्धेऽपि क्रोधो न भवति यथेश्वरवाक्ये, अर्थार्थिनो वा। तेषामपि विचारो नोत्पन्नइत्याह-सहसेति। उपप्लुतान्यक्षीणि येषाम्। अनेन तयोर्गुणा अपि तेषां न प्रत्यक्षा जाता इत्युक्तम्। उपप्लवः प्रलयः सर्वनाशरूपः, स तेषां जात इति तथोक्तम् ॥३१॥

व्याख्या—'ताभ्यां' यह चतुर्थी विभक्ति होने से इसका भावार्थ यह है कि उन दोनों के लिये शाप कहने लगे। यद्यपि शाप का अब विचार कर रहे हैं क्रोध से जो वचन कहे जाते हैं वें भी शाप ही माने जाते हैं, अतएव रोके गये अर्थात् साक्षी में स्थित देवों ने कहा कि इस प्रकार शीघ्रता में शाप न दीजिये।

द्वारपालादि ने जाने का निषेध तो कर ही दिया है, यहां वर्तमान काल का प्रयोग होना जचता नहीं, इससे 'ताभ्यां' चतुर्थी विभक्ति कही हैं 'अनिमिषेषुमिषत्सु' इस पद से देवों की दोनों तरफ साक्षीपन कहा है क्योंकि वे पलक बंद नहीं करते हैं जिससे सबको सर्वत्र देखते ही रहते हैं इसलिए सबके साक्षी हैं, उन्होंने भी रोका यों भी समीप होने से भाव प्रकट होता है, अथवा उन दोनों ने ही रोका यों माना जाय तो 'ताभ्यां' तृतीया विभक्ति समझी जायेगी। वास्तव में प्रवेश का निषेध

दोनों ने ही किया है वर्तमान के सामीप्य में वर्तमान प्रयोग होता है, 'स्वहर्त्तमाः' पद से यह सूचित किया है, अतियोग्य होने से रुकावट के लायक नहीं थे, जो सदाचारी होते हैं उनको भी रोका नहीं जाता है ये तो शास्त्रानुसार परमहंस थे जिससे विशेष पूजनीय थे अधिकता यह है कि उस पर भी ज्ञानी हैं, अतः सर्व प्रकार से आदरणीय थे, तब निषेध क्यों किया ? जिस पर कहते हैं 'हरेः प्रतिहारपाभ्यां' ये हरि के प्रतिहारों के रक्षक थे, हरि सर्व दुःखहर्ता हैं, भीतर जाने पर भगवान् का अतिक्रम (आज्ञाभङ्ग) होने से महान् दोष होगा, इसलिए भगवान् ने सर्वत्र बहुत द्वारपाल खड़े कर दिये हैं जिनके ये दो स्वामी हैं अतः द्वारपालों की रक्षा के लिए उनकी अपनी रक्षा के लिए भी प्रवेश का निषेध किया, जब यों है तो इनको (मुनिओं को) क्रोध क्यों आया ? इस पर कहते है कि 'सुहृत्तम दिदृक्षितभङ्गे …… क्रोधेन उपप्लु ताक्षाः' वे मुनि आत्मज्ञानी थे इसलिए इनकी सर्व में आत्मबुद्धि थी भगवान् में भी आत्मबुद्धि थी, भगवान् भी आत्मवित् हैं अतः मित्र (सुहृद्) हैं इसमें भी उनके गुणों से अन्तःकरण निर्मल होता है इसलिए वे सुहृत्तम विशेष सुहृत् हैं अपने भी इच्छित ज्ञान के साधक होने से, सुहृत्तम है उनके दर्शन की लालसा मन में हो रही थी, जिसने हम पर इतना उपकार किया है उनके दर्शन करने ही चाहिए अब फल प्राप्त हो रहा है उस अवसर को कैसे गुमावे ? साधन से स्वल्प (थोड़ो) कामना थी ।

दर्शन की इच्छा के अल्प थोड़े) प्रतिबन्ध से ही भङ्ग कर दिया इसलिए इनके मन में ऐसी इच्छा न रही कि इनसे पुनः बातचीत द्वारा समाधान कर हम दर्शन करें इस कारण से काम के छोटे भाई का जन्म हो गया बड़े काम रुक जाने पर भी इनको क्रोध नहीं आता है जैसे ईश्वर वाक्य से या मांगने वाले को क्रोध नहीं होता है उनको द्वारपालों का भी विचार नहीं आया एकदम नेत्र लाल हो गये जिससे इनको, उनके (देवों के) गुण भी देखने में नहीं आये । लालाई ऐसी नेत्रों में भर गयी मानों अब सर्वनाश प्रलय होगा यों वैसे कहने लगे ॥३१॥

आभास—तेषां वचनमाह–को वामिहेत्यादित्रिभिः

लाभासार्थ—इस श्लोक से लेकर तीन श्लोकों में जो मुनिओं ने वचन कहे वे बताते हैं—

मुनय ऊचुः श्लोक —

को वामिहेत्य भगवत्परिचर्ययोच्चैस्तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः ।
तस्मिन्प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां को वाऽऽत्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः ३२

श्लोकार्थ—मुनि कहते हैं, हे द्वारपालो! भगवान् की महती सेवा से यहां आकर जो भगवत्सेवकों में रहे हों फिर भी आपका ऐमा विषम स्वभाव कैसे हुआ है ? आपका स्वभाव तो भगवान् के समान समदर्शी होना चाहिये। यहां वाले सब समदर्शी हैं क्योंकि भगवान् परम शान्त समदर्शी हैं यहां तो कोई भी ऐसा नहीं है जिस पर शङ्का हो सके ? तुम स्वयं कपटी विषम दृष्टि वाले हो जिससे अन्यों को वैसा देखते हो यह उचित नहीं ॥३२॥

कारिका—**तयोः स्वाभाविको दीषः स्वामिद्रोहस्तथाऽपरः ।**
स्वस्याऽन्तरङ्गमित्त्रत्वात्तदुल्लङ्घनमेव च ॥१॥

कारिकार्थ – उन दोनों का स्वाभाविक दोष और दूसरा स्वामी का द्रोह और (हम मुनिलोग) भगवान् के अन्तरङ्ग मित्र थे (हैं) इसलिए ड्योढी का उल्लंघन कर रहे थे ॥१॥

कारिका – **दोषस्तृतीयो नाऽत्रोक्तो मित्रकार्यं पर कृतम् ।**
तथावचनसंदर्भात्सोच्यते जन्मसख्यया ॥२॥

कारिकार्थ—तीसरा दोष यहां नहीं कहा है, मित्रा ने कार्य किया है, वैसे वचनों के संदर्भ से मित्रकृत्य जन्म संख्या से (तीन से) कहा जाता है ॥२॥

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं तयोः स्वाभाविकं दोषमाहुः— **इह** वैकुण्ठे, **उच्चैर्भगवत्परिचर्यया** पूर्वजन्मनि कृतया, भूमेः सकाशादिहागत्य **निवसतां** भगवत्सेवकानां मध्ये **को वां युवयोरेष** विषमः स्वभावः ? अस्मासु दोषबुद्धिः, **'नाऽर्थदा पुरुषाद्विषाम्'** इति पुरुषे द्वेषस्य निन्दितत्वात् । कैश्चित् प्रवेष्टव्यं कैश्चिन्नेति केचिदाहुः, तदा द्वारपालकाधिकारदानं भगवतो विरुध्येत । आत्मीयानामपि मातापित्रोरप्यनवसरे गमनमुचितं न भवतीति लौकिकार्थं तथाकरणं द्वारपालयोरुचितमेव । तथा नूतनानां महतामुपहासः क्रोधदर्शनं वैकुण्ठवासिनामुचितम्, सामान्यधर्मानुरोधेनैव विशेषधर्माणां कर्तव्यताया उचितत्वात् । तेषां मते सर्वं कर्मजन्यमेव, तत्रापि भोगरूपम्, भक्तिमार्गस्याज्ञातत्वात् । अतो निरन्तरभगवत्सेवयाऽत्राऽऽगत्य स्थितिर्भवतीति मन्यन्ते । तत्रापि वैकुण्ठे ये भगवत्समानधर्मा ब्रह्मण्या धर्मनिष्ठप्रीतियुक्तास्तेषां मध्य इति । तेनैतयोः सहजवैकुण्ठादागमनं निवारितम् । स्वस्य मुखाद्वचनं निःसरतीति । **को** वेत्यधिक्षेपे, **वे**त्यनादरे वा । ननु त्रैविध्यात् केचन विषमस्वभावा अपिभवन्तीति चेत्तत्राऽऽह—**तस्मिन् प्रशान्तपुरुषे गतविग्रह** इति । अयं विषमस्वभावः स्वार्थम्, भगवदर्थं वा ? स्वार्थं चेत्, न युवां भगवदीयौ । तत्र

हेतुमाह – **प्रशान्तपुरुष इति**। प्रकर्षेण शान्ताः पुरुषा यस्य। तस्य हि सर्वे पुरुषाः शान्ता एव। शान्तिस्तु ज्ञान एव, अतो वैषम्यं भगवदीयत्वाभीप्सोर्नोचितम्। भगवदर्थं च नाऽपेक्ष्यत इत्याह– **गतविग्रह इति**। गतो विग्रहः कलहो यस्य। विशेषेण ग्रह आग्रहो वा। विग्रहो देहो वा। देहाभावान्न केनाऽप्यनिष्टं कर्तुं शक्यम्, कलहाभावात् न कश्चित् द्विष्टः, आग्रहाभावात् नाऽनौचित्यं भगवान् मन्यते। अतो विषमस्वभाव उत्पत्त्या चोत्पत्त्या चाऽत्र बाधितः। **वां** युवयोः। एवं तयोर्विषमस्वभावं निन्दित्वा स्वातिक्रमदोषं तयोरुपपादयन्ति—**को वाऽऽत्मवदिति**। कुहक**योर्वञ्चक**योः को वा आत्मवत्परिशङ्कनीय इति। दुष्ट एव हि अन्यत्र दोषं मन्यते, अतो युवयोर्दोषोऽस्तीत्यवसीयते। परिचर्याया एव वैकुण्ठागमनहेतुत्वं मन्यन्ते, न तु निष्कपटपरिचर्यायाः। अतः कपटेन परिचर्यां कृत्वा वैकुण्ठे समागत्याऽधिकारं प्राप्य, स्वभावादधिकाराच्च, यथा वयं तथाऽन्योऽप्यत्रा गमिष्यतीति यत्रैव स्वस्याऽस्वारस्यं तत्रैव विषमदृष्टिः, न तु विषयपरिज्ञानादिति तस्य पक्षस्याऽऽक्षेपः। वयं तु न परिशङ्कनीया इति भावः। निषेधस्तु परिशङ्कीकारे स्वस्याऽपि कुहकत्वं सेत्स्यतीति। तस्माद्वयं निर्दुष्टाः, युवामेव सदुष्टौ, निर्दुष्टे दोषारोपात्। आग्रहाविष्टबुद्धिर्नाऽयन्तं युक्तिमपेक्षंते, अतोऽस्मिन्पक्षे न समर्थोपपत्तिः। तथाऽग्रिमपक्षेऽप्यवगन्तव्यम् ॥३२॥

व्याख्या– उनमें से पहले इन दोनों का स्वाभाविक दोष कहा जाता है इस वैकुण्ठ में, पूर्व जन्म में की हुई भगवान् की विशेष सेवा से भूमि में आकर रहने वाले भगवत्सेवकों में से तुम दोनो का ऐसा विषम स्वभाव कैसे हुआ है? जिससे हम लोगों में दोष की बुद्धि की है पुरुष (भगवान्) से द्वेष करने वालों की बुद्धि लाभदायक नहीं होती है, यों पुरुष से द्वेष करने की निन्दा की गयी है। किसी को प्रविष्ट करने देना और किसी को न करने देना यह उनकी विषम बुद्धि है यों कोई कहते हैं यदि यों होवे तो भगवान् ने द्वारपालों को जो अधिकार दिया है उससे विरोध आता है। जो अपने हों वा माता–पिता हों उनको भी जब भगवद्दर्शन का समय न होवे तब जाने देना (वा छुट्टी देना) उचित नहीं है। इसलिए लौकिक के लिए यों करना द्वारपालों को उचित ही है वैसे नये आये हुवों और बड़ो का उपहास (मजाक करना) तथा क्रोध दिखाना वैकुण्ठ वासियों को उचित नहीं है, सामान्य धर्म की जगह पर विशेष धर्म करने पड़े तो करना उचित ही है उनके मतानुसार सब कुछ कर्म से ही होता है। जिसमें भी भोगरूप फल तो कर्म से ही भोगा जाता है, क्योंकि उनको भक्तिमार्ग के स्वरूप का ज्ञान नहीं है, अतः निरन्तर भगवत्सेवा करने से यहां आकर स्थिति होती है यों मानते हैं, वहां (वैकुण्ठ में) भी जो भगवान् के समान गुण वाले, ब्राह्मणों के हितेच्छु हैं, धर्म में श्रद्धा वाले एवं प्रेमवाले है उनके साथ रहते हुए इस प्रकार का बिषम स्वभाव कैसे? वह क्यों? इससे यों सूचना दी है कि ये दो देव सहज में वैकुण्ठ से भूमि पर नहीं आये हैं, ऐसे वचन अपने (मुनियों के) मुख से इस कारण से निकलते हैं।

'को वा' इस पद से अपमान प्रकट किया है वा 'कः' से अनादार का सूचन है मनुष्य तीन प्रकार के गुण वाले होते हैं. जिससे कोई विषम स्वभाव वाले भी हो सकते हैं, यहाँ इससे यह सूचना दी है कि वे शान्त पुरुष वाले और विग्रहरहित हैं तब यों कहा हैं, यह विषम स्वभाव, अपने लिए है व भगवान् के लिए है ? जो अपने लिए हैं, तो तुम दोनों भगवदीय (भगवद्भक्त) नहीं हो, क्योंकि भगवान् के भक्त शान्त होते हैं यदि भगवान् के लिए कहो तो उनमें विग्रह (कलह) है ही नही अथवा आग्रह नहीं है वा देह ही नहीं है, देहाभाव (देह न होने) से किसी का भी उनसे अनिष्ट नहीं हो सकता है तथा न उनका कोई अनिष्ट कर सकता है। कलह न होने मे कोई शत्रु नहीं है, आग्रह न होने से किसी की अनुचितता नहीं मानते हैं, अतः यहां (वैकुण्ठ में) उत्पत्ति से व उपपत्ति (हेतु सहित युक्ति) से विषम स्वभाव का बोध किया जाता है. तुम दोनों का विषम स्वभाव है।

इस प्रकार उनके विषम स्वभाव को निन्दा कर, उन्होंने जो अपना अतिक्रमण किया है उसको सिद्ध करते हैं, 'कोत्राऽऽत्मवदिति.... परिशङ्कनीयः' कपटी धूर्तों के सिवाय कौन ऐसा है जो सत्पुरुषों में दोष देखता है ? दुष्ट ही दूसरों में दोष देखते हैं, क्योंकि स्वयं ऐसे हैं, अतः जाना जाता है कि तुम दोनों में दोष (विषमता) है, इसलिये दूसरों को भी वैसा ही देखते हो। परिचर्या (सेवा) ही बैकुष्ट आने में हेतु मानते हो, न कि कपट रहित शुद्ध आत्मरूप को भावना से की हुई परिचर्या को, अतः कपट से सेवा द्वारा बैकुष्ठ में आके अधिकार प्राप्त कर. स्वभाव से और अधिकार से यों समझते हो कि जैसे हम आये वैसे दूसरा भी यहां आया होगा, इस विचार से मानते हो जैसे हमारा स्वभाव विषम है वैसा दूसरों का भी होगा, किन्तु आपका ऐसा स्वभाव इसलिये हुआ है जो आपको विषय का ज्ञान नहीं है अतः आपमें विषम दृष्टि है, यों उस पक्ष का (मुनिओं का) द्वारपालों पर आरोप है। यों कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की शङ्का हम लोगों में नहीं करनी, यदि हम लोग ऐसे विषम स्वभाव वाले-आत्म बुद्धि रहित हैं यों स्वीकारो तो हमको, रोक सकते हो अन्यथा नहीं, यदि हम में ऐसी कुशंका करोगे तो आप में धूर्तत्व सिद्ध होगा, इसी से हम निर्दोष हैं तुम दोनों ही दोषो ही हो क्योंकि निर्दोष पर दोषारोपण किया है. आग्रहयुक्त बुद्धि, युक्ति को विशेष अपेक्षा नहीं रखती है अतः इस पक्ष में समर्थ तर्क वाली युक्ति नहीं है यों ही आगे के पक्ष में भी जान लेना चाहिये।।३२॥

आभास—स्वामिद्रोहमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में द्वारपालों ने जो स्वामि का द्रोह किया उसका वर्णन करते हैं—

श्लोक---**न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षावात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः ।**
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं व्युत्पादितं ह्युदरभेदिभयं यतोऽस्य ।।३३।।

श्लोकार्थ—समस्त ब्रह्माण्ड जिसके कुक्षि में है उस भगवान् में यहां (वैकुण्ठ के अन्दर) रहने वाले ज्ञानी भक्त श्री हरि में अपने से कोई भेद नहीं देखते हैं परन्तु जैसे घटाकाश महाकाश के ही अन्तर्गत है वैसे सबको वैकुण्ठ भगवान् के ही अन्तर्गत देखने में आता है, फिर तुमको ऐसी विषम बुद्धि कहां से आई जो भेद भाव के कारण भय की कल्पना कर रहे हो ? ।।३३।।

सुबोधिनी— न ह्यन्तरमिति। इह वैकुण्ठे शुद्धसत्त्वात्मके रजस्तमसोरभावान् तत्कृतमुच्चनीचत्वमपि नाऽस्ति। किञ्च,भगवति नाऽस्त्यन्तरम्, तेन ये ज्ञानादिमन्तस्ते भगवद्रूपा इति तेषु भगवति चाऽन्तरकरणं स्वामिद्रोहः। किञ्च, **समस्तकुक्षाविति**। समस्तं कुक्षौ यस्य। वैकुण्टवासिनः सर्वे पूर्वं तस्य कुक्षावेत्र स्थिताः, इदानीं वा नारायणोदरे सर्वे तिष्ठन्तीति। अतः प्रथमपक्षे वैकुण्ठवासिष्वन्तरनुचितम्, द्वितीयपक्षे सर्वेष्वेव। तस्य समस्तकुक्षित्वं श्रुत्यनुभवसिद्धम्। तत्र श्रुतिः—**'आत्मैवेदं सर्वम्' यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्'** इति च: अनुभवं कीर्तयन्ति—**आत्मानमात्मनि नभो नभसीव धराः पश्यन्तीति। आत्मानं** स्वात्मानम्। **आत्मनि** भगवति। आत्मनश्च पुनःसर्वत्वज्ञानात् सर्वं भगवति भविष्यति, स्वदृष्टान्तेन वा। तत्र प्रथमपक्षो वादिनं प्रति वक्तव्यो न भवतीति दृष्टान्तपक्षमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति - **नभो नभसीवेति**। यथा घटाकाशो विद्यमानेऽपि घटे महाकाश एव, महाकाशे वा; तथा सर्वं आत्मानः सोपाधयोऽपि भगवानेव, भगवति वा। अत्र प्रमाणम्–**धोराः पश्यन्तीति**। श्रुतिर्ब्रह्मवादे भगवद्वादे वाऽप्युपपद्यते, तथाप्यनुभव आत्मवाद एव स्वाधीनः, अतो **धीरा** इत्येवाऽधिकारीविशेषणम्। धैर्यं हि आत्मनो महाफलत्वज्ञानात् फलान्तरेच्छाभावपूर्वकेन्द्रियादिजयः, चित्तास्थैर्यमेव वा धैर्यम्। एवं सर्वकुक्षित्वं प्रतिपाद्य तत्रापराधः कृत इत्याहः—**यत्र भगवति, सुरलिङ्गिनोर्युवयोः**। देवानां लिङ्गमात्रम्, वस्तुतस्तु दैत्या एव तृतीया दैवगत्याऽपि करण सम्भवतीति नोक्ता। षष्ठ्या तु स दोषस्तेषां संबन्धीति बोध्यते। उदरं भिनत्तीत्युदरभेदि, तस्य भयम्। **'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तर कुरुते अथ तस्य भयं भवति'** इति श्रुतिः। ये भगवद्भावं प्राप्तस्ते उदरशब्देनोच्यन्ते, तेष्वन्तरं कुर्वन् भय प्रोप्नोतीत्यर्थः। **उत्** ऊर्ध्व**मरमप्यन्तरमिति** च। **उत्** उर्ध्वं लौकिकापेक्षयाऽप्यधिकं शास्त्रतो भेदसमर्थनम्, **अरमीषत्**। भृत्यापराधे स्वाम्येवैवं करोतीति लोके प्रतीतिर्भवत्। तदोददरभेदिनां यद्भयम्, तदस्मिन्नपि कृतं भवेदिति युक्त एव तव स्वामिद्रोहो जात इति हिशब्दार्थः। सेवककृतत्वात् भगवत एतदङ्गीकर्तव्यम् तथा सति भयं भवेदिति गूढाशय. ।।३३।।

व्याख्या – इस शुद्ध सत्त्वात्मक बैकुण्ठ में रजोगुण एवं तमोगुण के अभाव से उच्चत्व तथा नीचत्व भी नहीं है अर्थात् भेद-भाव नहीं है और विशेष में भगवान् में कुछ भी अन्तर (भेद) नहीं

है, इससे जो ज्ञानवान् हैं वे भगवद्रूप हैं इसलिये उनमें तथा भगवान् में भेद करना, स्वामि का द्रोह है, और अधिक यह है कि जिस (भगवान्) की कुक्षि में समस्त स्थित है, बैकुण्ठ वासी सर्व पहले उस (भगवान्) की कुक्षि में ही स्थित थे वा अब सब नारायण के उदर में स्थित हैं, अतः प्रथम पक्ष में बैकुण्ठ-वासियों में भेद करना उचित नहीं है, द्वितिय पक्ष में तो किसी से (में) भी भेद करना योग्य नहीं है, उनकी कुक्षि में हो समस्त स्थित हैं। यह श्रुति और अनुभव सिद्ध है, इससे श्रुति 'आत्मैवेदं सर्वं'' 'यस्मिन्निदं स च वि चैत सर्वम्' इति च'। 'यह सर्व जो दिख रहा है वह आत्मा ही है, 'जिसके अन्दर अच्छी रीति से बहुत एवं समस्त रहता है' यों और श्रुतियां अनुभव प्रकट करती हैं 'आत्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः पश्यन्तीति' अर्थात् अपनी आत्मा (चिद्रूप- जीवात्मा को) 'आत्मनि' भगवान् में। आत्मा को सर्वत्व ज्ञान से सर्व भगवान् में होगा, अथवा अपने दृष्टान्त से अनुभव सिद्ध है, यह पहला पक्ष वादी को कहने योग्य नहीं क्योंकि वह समझे वा न समझे अतः दृष्टान्त द्वारा 'नभोनभसीव' से समझाते हैं जैसे घटाकाश जिस समय घट में विद्यमान है उस समय भी वास्तविक स्वरूप में घटाकाश होते हुए भी महाकाश का रूपान्तर है एवं महाकाश में होंने से उससे पृथक् वा अन्य नहीं है, वैसे ही सब आत्माएं उपाधिवाली भी भगवान् ही है, वा भगवान् में स्थित है। इससे प्रमाण है' धीराः पश्यन्ति' धीर पुरुष (अनुभवी) यों दर्शन कर रहे हैं इस प्रकार दर्शन करने वाले अधिकारी वे हैं जो 'धीर' ज्ञान वैराग्य भक्ति वाले हैं, यह श्रुति 'धीराः पश्यन्ति ब्रह्मवाद एवं भगवद्वाद में उत्पन्न होती है, तो भी आत्मवाद में अनुभव स्वाधीन ही है, अतः 'धीरा' यह ही अधिकारी का विशेषण है, धैर्य ही निश्चय से आत्मा के महाफल रूप ज्ञान से प्राप्त होता है, अन्य फल की इच्छा का अभाव पूर्वक इन्द्रियादि का जय, अथवा चित्त की स्थिरता धैर्य है, यह धैर्य जिनमें है वे धीर कहे गये हैं।

इस प्रकार सब कुछ जो है वह सर्व भगवान् की कुक्षि में अर्थात् भीतर स्थित है यों प्रतिपादन कर कहते हैं उस भगवान् का देवों के चिन्हधारी तुम दोनों ने अपराध किया है देवों का चिन्ह तो धारण किया है किन्तु वस्तुतः तुम दैत्य हो, इसलिये 'युवयो' षष्टी दी है यदि 'युवाभ्यां' तृतीया देते तो उसका भाव यह भी हो जाता कि. देव गति से यों हो जाता है, षष्ठी देकर सिद्ध किया है कि देवगति से नहीं बल्कि इनमें दैत्य सम्बन्ध है जिससे यों मुनिओं को इस प्रकार रोका है। जो थोड़ा (स्वल्प) भी भेद करता है उसको भय होता है जैसे भगवती श्रुति कहती है 'यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदर मन्तरं कुरुते अथ तस्यभय भवति' अर्थात् जब जीव इसमें उदर का भेद करता है तब उसको भय होता है, अर्थात् जो मनुष्य भगवद्भक्त एवं ज्ञानिओं में भगवान् से थोड़ा भी भेद-भाव करता है उसको भय होता है, विशेष वा स्वल्प (थोड़ा) भी जो सेवक भेद करता है तो वह लोक में स्वामी का ही किया समझा जाता है ऐसी दशा में उदर भेदिओं को, भगवद्भक्त व ज्ञानियों को भगवान् से भिन्न समझ भेद करते हैं उनको जो भय होता है

वैसा कृत्य (काम) इस विषय में भी तुमने किया[1] है इसलिये यों समझना कि तुमसे स्वामि द्रोह हुआ है वह उचित ही है, यह 'हि' शब्द का तात्पर्य है, जो (कार्य) सेवक करता है वह स्वामी अपना समझ लेते हैं अर्थात् मान लेते हैं, यों होने पर भय होगा ही यह गूढ़ाशय है ।।३३।।

> आभास—एतदनङ्गीकारे तु स्वमिनो भयं न भविष्यत्येव, तदेतयेरेव भयं भवत्विति शास्त्रार्थसिद्धचर्थं भगवति मैत्रीनिर्वाहार्थं च तयोः शापं प्रयच्छन्ति

आभासार्थ—देवों द्वारपालों) का किया हुआ कार्य स्वामी (भगवान्) स्वीकार नहीं करें तो स्वामी को भय नहीं होगा, वह भय इनको ही होगा, यों शास्त्र का अथ सिद्ध हो एवं भगवान् से भी मैत्री का निर्वाह होता रहे तदर्थं इन दोनों को शाप देते हैं—

श्लोक—तद्वाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः कर्तुं प्रकृष्ठमिह धीमहि मन्दधीभ्याम् ।
लोकनितो व्रजतमन्तरभावदृष्टचा पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ।।३४।।

श्लोकार्थ—इससे हम तुम्हारें लिए यह विचार कर रहे हैं जो विकुण्ठ के स्वामी के लिए उत्तम हो, और तुम्हारे योग्य हो, तुम मन्द बुद्धि, भगवत्सेवक होते हुए भी भेद दृष्टि वालों के समान यहां कर्म कर रहे हों अतः यहां से निकल कर पापी लोक में में जन्म लो जहाँ इनके तीन शत्रु रहते हैं ।।३४।।

सुबोधिनी—तद्वामिति । अमुष्य भगवतः सर्वेषां **परमस्य** स्वामिनः, अस्मदाद्यनुग्रहार्थं विकुण्ठस्थाने संस्थितस्य । विकुण्ठशब्देन शुद्धं सत्त्वम्, तद्भर्तुरित्यस्मदादिसत्त्वस्याऽपि भर्तृत्वात् तस्य **प्रकृष्टं कर्तुमिहाऽस्मिन्नर्थेयदुचितं तद्वोमहि**, ध्यानेन साक्षात्करिष्यामः । **वां** युवाभ्याम् । **मन्दधीभ्यामिति ।** ताभ्यामेव चेदनिष्टं दीयते, तदा ताभ्यामेव भगवत इष्टं भवतीति **चतुर्थीतृतीये** । ध्यानेन निश्चितमर्थंमाहुः—**लोकानितीव्रजतमिति** । अन्तरभावेन या दृष्टिः कृता क्रूरा, तया कृत्वा, इतोऽधस्तनान् **लोकान् व्रजतम** । इदं हि सत्त्वस्थानम्, ततोऽधस्तना राजसतामसाः । तत्रैकः केवलराजसः, द्वितीयो राजसतामसः, तृतीयस्तामस इति । अवान्तरलोकानां बहुत्वसम्भवात् त्रीनिति वक्तुं विशिनष्टि-**पापीयसस्त्रय इति । अस्य** भगवतो **रिपवो** भगवदीयैर्हेयत्वेन ज्ञाताः, **'कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं** त्यजेत्' इति वाक्यात् । ते च **पापीयसः** संबन्धिनः, न भगवदीयाः, किन्तु तद्विरोधिनश्च । अतो भगवद्विरोधि कामादित्रयं येषु लोकेषु, तान् लोकानितो व्रजतमित्यर्थः ।३४।

व्याख्या—यह भगवान् सर्व के स्वामी, हम जैसों के अनुग्रहार्थ विकुण्ठ स्थान में विराज रहे हैं 'विकुण्ठ' शब्द से शुद्ध सत्त्व प्रकट कहा है । उस शुद्ध सत्त्व (विकुण्ठ) के भर्त्ता होने से हम लोगों के सत्त्व के भी भर्त्ता हुवे अतः उनका हित करने के लिये इस विषय में जो उचित करना चाहिये,

---

[1] जो थोड़ा भी भेद-भाव रखता है उसको भय होता है ।

उसका ध्यान पूर्वक विचार कर वह साक्षात् करेंगे, तुम दोनों मन्द बुद्धि वालों को यदि अनिष्ट दिया जायेगा तब उससे भगवान् का इष्ट (इच्छित) मनोरथ सिद्ध होगा। इसलिये 'मन्दधीभ्याम' पद तृतिया और चतुर्थी दोनों विभक्ति के लिये हैं— ध्यान (विचार) कर निश्चित् निर्णय कहते हैं 'लोकानितो व्रजत' भेद भाव वाली क्रूर दृष्टि से जो अनुचित कार्य किया, इससे तुम यहां से जो से नीचे लोक है उसमें जाओ यह शुद्ध सतोगुण है इससे स्थान नीचेके लोक राजसतामस हैं उनमें पहला राजस दूसरा राजसतामस और तीसरा तामस है, अवान्तर लोक बहुत हैं अतः तीन पापी जहां रहते हैं वहलोक कहा है, इन भगबान् की प्राप्ति में रुकावट डालने में जो शत्रुरूप हैं वे जिस लोक में रहते हैं वे भगवान् के मानो शत्रु हैं अतः भगवद्भक्तों के लिये त्याज्य हैं, जैसे 'कामः क्रोध तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्' ये काम क्रोध और लोभ में तीन पापियों के सम्बन्धित हैं भगवदीय (भगवद्भक्तों के सम्बन्धी) नहीं हैं, किन्तु उनके विरोधी हैं, अतः भगवद्विरोधी ये कामादि तीन जहाँ रहते हैं उस लोक में जाओ। ॥३४॥

आभास—पूर्वं शापपर्यवसायित्वमज्ञात्वा कृतोऽतिक्रमः। जाते च शापेऽमूर्त्ता
वाग्गदादिभिर्दूरीकर्तुमशक्येति तेषां प्रार्थनयैव शापो गमिष्यतीति
बुध्द्वा तेषां प्रसादनं कृतवन्तावित्याह–

आभासार्थ देवो ने (द्वारपालों ने) यों नहीं जाना था कि हम इनको रोकेंगे तो ये शाप देंगे इसलिये कुमारों को उपहास पूर्वक रोक लिया अब जब देखा कि शाप ऐसा मिला है जिसका गदादि से मिटाना असम्भव है अतः इस शाप को मिटाने के लिये प्रार्थना करें तो मिट सकेगा यों समझ, उनको प्रसन्न करने लगे जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तेषामितीरितमुभाववधार्य घोरं ब्रह्मदण्डमनिवारणास्त्रपूगैः।**
सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्तत्पादग्रहावपततामतिकातरेण ॥३५॥

लोकार्थ—उनके कहे हुए ये वचन घोर ब्रह्मदण्ड हैं, इनको शस्त्र समूह से रोका नहीं जायेगा यों निश्चय कर, दोनों हरि के अनुचर बहुत भयभीत हो के उनके पैरों को पकड़ कर उन (पैरों) पर गिर पड़े ॥३५॥

सुबोधिनी—**तेषामिति** । शापस्त्वङ्गीकृतो ग्लानिहेतुर्न भवतीति तदङ्गीकारार्थं ततोऽधिक मा वदन्त्विति तेषां पदयोः पतितौ । इत्यमुना पूर्वोक्तप्रकारेण **तेषामीरितमवधार्य**, तदुक्तश्चाऽर्थो ब्रह्मदण्ड इति निश्चित्य, **अस्त्रपूगैश्चाऽनिवारणं** मत्वा, **हरेरनुचरावपि** तेषां **पदयोरपतताम्** ।

तत्रापि **पादग्रहौ**, तेषां पादान् गृहीत्वा तत्र पतितावित्यर्थः । **सद्य इति** । विलम्बे पुनः शापो भगवद्दण्डो वा भवेदिति । माया वा ततो निर्गतेति **हरेरनुचराविति** भगवदभिप्रायाभिज्ञौ, स्थानान्तरे गमनमत्यरिष्टमिति । स हि सर्वदा हरिः, अन्यत्र दुःखहर्ता कोऽपि नास्तीति । तेषां वा मानसि जातं दुःखं दूरीकर्तुं तया कृतवन्तौ, यत एतयोः स्वामी हरिः । किञ्च **उरु बिभ्यतः**, अधिक च भयं प्राप्तवन्तौ, श्रुत्यर्थस्तदैव जात इति । **अतिकातरेणेति** तेषां दयोत्पादनार्थं स्वस्य दैन्यं ज्ञापितवन्तौ ।३५।

व्याख्या—यदि शाप को स्वीकार करने में आवे तो वह दुःख व ग्लानिदायक नहीं होता है, उस शाप का अङ्गीकार करने के लिये और इससे विशेष न कहें तदर्थ उनके चरणों में गिर पड़े पूर्वोक्त प्रकार से कहे हुए उनके वचन सुनकर जान लिया कि यह ब्रह्मदण्ड है इसको शस्त्रादि से हटाया वा रोका न जायेगा । यों निश्चय कर, हरि के अनुचर होते हुए भी उनके पैरों मेंगिर पड़े । न केवल गिरे किन्तु क्षमार्थ पैर पकड़ लिये 'सद्यः' इस कार्य में कुछ भी विलम्ब न किया, क्योंकि डर लगा कि विलम्ब होने पर फिर ये शाप दे देवें अथवा भगवान् दण्ड देवें जब इन देवों (द्वारपालों में) से माया निकल गयी तब ये हरि के अनुचर होने से भगवदभिप्राय को जान गये कि दूसरे स्थान में जाना हमारे लिये हित है ऐसी भगवदिच्छा है, वह सर्वदा हरि (दुःखहर्ता) है, दूसरे स्थान पर दुःख हर्ता कोई नहीं है उनके (कुमारों के) मन में जो दुःख उत्पन्न हुआ उसकों दूर करने के लिये उनके चरणों पर पड़े क्योंकि इन द्वारपालों के स्वामी हरि (दुःखहारी) हैं, और अधिक कहते हुए भयभीत होने लगे, कारण कि उस समय ही श्रुति के[1] अर्थ का इनको ज्ञान हुआ । इसलिये बहुत दीनता से चरणों में पड़े, इसलिये मुनियों के हृदय में भी हमारे लिए दया उत्पन्न होवे । ॥३५॥

आभास—एवं चरणयोः पतित्वा एकं प्रार्थयतः–

आभासार्थ—यों चरणो में गिरकर एक को प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—**भूयादघोति भगवद्भिरकारि दण्डो यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम् ।**
मा वोऽनुत्तापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे मुनियों ! आपने जो हम पापियों को दण्ड दिया है वह उचित ही है, क्योकि हमने भगवदभिप्राय न जानकर आपका तिरस्कार किया, इससे हमको जो पाप लगा वह इस शाप द्वारा मिट जायेगा हमारी कुबुद्धि से किये हुए कृत्य का फल यह दशा हुई है किन्तु आप इतनी कृपा कीजिए कि भगवत्स्मृति नाश करने वाला मोह हमको न हो किसी भी तरह भगवान् की स्मृति (याद) बनी रहे ॥३६॥

सुबोधिनी—भूयादघोनीति । अघोनि पापसहिते भगवद्भिर्योदण्डः कृतः, स भूयात् । तथा कथने हेतुः–**यो दण्डो नौ आवयोः सुरहेलनं भग**वदवज्ञाम्, भगवद्दैवतावज्ञां चचे । **अशेष** सर्वमेव **हरेत** । यदि तद्दत्तः शापो नाऽङ्गीकृतः स्यात्, तदा वरमपि न प्रयच्छेयुरिति तदङ्गीकरणम् । प्रार्थनामाह–**मा वोऽनुतापकलयेति** । वो युष्माकं **योऽनुताप:**, वृथैव शापो दत्त इति; तस्य कलया लेशेन **नौ आवयोरधोधो व्रजतोरपि मोहो मा भवतु** । कामक्रोधलोभैर्नरक एव भवति, न संसारः; मोहेन च संसारो भवत्यतस्तत्प्रार्थनमुचित मेव । जायमानोऽपि मोह आवश्यकत्वात् तत्तज्जन्मनि भग**वत्स्मृतिघ्नो मा भवेत्**, किन्तु जायमानमप्यज्ञानं मोहात्मकं भगवत्स्मरणमेव संपादयतु । **तु** पुनरिह भगवति मोहो भवतु, भगवद्वैराग्यं मा भवत्विति । **'व्रजतम्'** इति भगवद्वाक्यात् फलं शीघ्रमेव भविष्यतीति ज्ञापितम् । तथा स्मरणमपि भवत्विति प्रार्थनायां भावः । **अघोध इति** दैन्यं ज्ञापितम् । दैत्याद्राक्षसा निकृष्टाः, तेभ्योऽपि मनुष्या इति; राक्षसानामपि देवयोनित्वात् ॥३६॥

व्याख्या—हम पापियों को आप भगवानों ने जो दण्ड किया वह भले हो, (द्वारपालों के इस तरह कहने का कारण अपने दोष की स्वीकृति है) हम दोनों ने जो देव का अपमान व भगवदवज्ञा की, उसका दण्ड है । यह दण्ड, भगवान् जिनके देव हैं उन मुनियों के, हमसे हुए पापों को मेटेगा । शाप की स्वीकृति का कारण यह है कि यदि हम शापको स्वीकार नहीं करेंगे तो मुनिवर वरदान भी न देंगे, अतः स्वीकार कर प्रार्थना करने लगे 'मा वोऽनुतापकलयः' आपके वृथा दिये हुए शाप के लेश मात्र से नीचे तीन लोक में जाते हुए भी हमें मोह न होवे, काम, क्रोध और लोभ से नरक प्राप्ति होती है, न कि संसार प्राप्ति होती है मोह से संसार होता है अतः इस प्रकार की (मोह न होवे) प्रार्थना करनी उचित ही है यदि, आवश्यक होने से मोह उत्पन्न भी होवे तो भी वह (मोह) भगवान्) की स्मृति का नाश कराने वाला न हो किन्तु उत्पन्न हुआ भी मोहात्मक अज्ञान भगवत्स्मरण ही करावे, फिर भगवान् में मोह हो वैराग्य न हो ।

'व्रजतम्' क्रिया का गूढ़ाशय यह है कि जाओ और फिर जल्दी आओ । अतः इस भगवान् के वाक्य से फल प्राप्ति सिद्ध होगी यों जताया है । न केवल विस्मृति हो किन्तु स्मरण भी होता रहे । प्रार्थना में यह भाव (रहस्य) भी है, 'अद्योऽधः' पद से दीनता प्रकट की है । दैत्य से राक्षस निकृष्ट हैं किन्तु वह (राक्षस की) यानि देवयोनि है अतः उनसे मनुष्य निकृष्ट (नीची कक्षा के) हैं इनको क्रमशः तीन योनि भोगनी पड़ी (१) दैत्य (२) राक्षस (३) मनुष्य ॥३६॥

आभास—एवं प्रार्थितेऽपि प्रसादे, अङ्गीकारेण दत्तेऽपि, साक्षाददानं पश्चात्तापव्याकुलानामुचितमेव, विवेकेन सर्वप्रतिरोधो वा । एवं सति सर्वनिर्द्धारार्थं भगवानागत इत्याह—

आभासार्थ--मुनिओं ने देवों की प्रार्थना स्वीकार कर उन पर कृपा की किन्तु प्रत्यक्ष नहीं की, क्योंकि पश्चाताप से जो व्याकुल हो उनको प्रत्यक्ष कृपा करना उचित नहीं है, विवेक से अथवा सकल प्रतिरोध करे तब सर्व का निर्णय करने के लिये भगवान् स्वयं पधारे जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः ।
तस्मिन्ययौ परमहंसमहामुनीनामन्वेषणीयचरणौ चलयन्सहश्रीः ॥३७॥

श्लोकार्थ---भगवान् कमलनाभ जिनके प्यारे है वे इस कृत्य को जानकर उस ही समय लक्ष्मो जी के साथ श्री चरणों से चलकर वहां आ गये जिन चरणों को परमहंस और महामुनि भा ढूंढ रहे हैं ॥३७।

सुबोधिनी—**एवं तदैवेति** । **एवं सति तदैव भगवान्** विबुध्य **तस्मिन् स्थाने ययाविति** संबंधः । **तदैवेति** न ज्ञापनापेक्षा । तत्र हेतुः-**भगवानिति** । तर्हि पूर्वमेव कथं न प्रतिकारं कृतवानित्याशङ्क्याऽऽह-**अरविन्दनाभ इति** । सृष्टिजनकोऽयम्, यतः कमलनाभः । अतः पूर्वं न कृतवानित्यर्थः । तत्रैवं संदेहः- किं भगवता मुनीनामपराधो बुद्धः, अहोस्वित्सेवकयोरिति; उभयत्र युक्तीनां संभवात् । तत्र निर्द्धारार्थमाह-**स्वानां विबुध्य सदतिक्रममिति** । स्वसेवकानामेवाऽपराधः, यतः सतामतिक्रमः कृत इति । अनेन प्रथमापराधस्तयोरिति सूचितम् । लोकेऽपि यः प्रथममपराध्यति स दण्ड्यः । ननु तेषामेव कथं नापराधः ? यदपृष्टैव प्रविष्टा इति । तत्राऽऽह-**आर्यहृद्य इति** । आर्याः सन्मार्गवर्तिनो मर्यादायां श्रेष्ठाः, ते हृद्या यस्य । अतो भगवदन्तःकरणे ते रोचन्त इति तेषामागमनं नाऽपराधः आर्याणां हृद्यो वा । अतोऽप्यागमनं तेषामुचितमेव । **तस्मिन्** स्थाने **ययौ**, उभयोः कृतिसमर्थनार्थम् । यत् सेवकाभ्यां निवारितास्ते पुनरन्तः प्रवेशयितुं न युक्ता इति स्वयमेव तत्र गतः, न त्वाकारितेस्त । न वा पश्चात्ते समानीताः, सत्कृता वा । तेषामपि चरणारविन्ददर्शनाकांङ्क्षा वर्तत इति चरणावेव चालयंस्तत्र गतः । एवं स युभयेषां खेदो भवेत् । सेवकानामुचित एव खेदः; मुनीनामपि, **परमहंसमहामुनीनामन्वेषणीयौ** तौ चरणाविति । परमहंसाश्च ते महामुनयश्च । परमहंसा इत्यनेन धर्मनिष्कर्ष उक्तः, महामुनीनामिति ज्ञानोत्कर्षः । उभयोत्कृष्टा विशिष्टस्यैव भगवतश्चरणान्वेषिणो भवन्ति, काण्डद्वयार्थस्य सिद्धत्वात्, भक्तिरेवाशिष्यत इति । **चलयन्निति** चालयन्नित्यर्थः । **सहश्रीः** लक्ष्मीसहितः । तयाऽपि सहागमनं तथा, तस्याः स्थित्या ह्यनवसरत्वमिति । सा पुनर्बहिरप्यानीता, तेन सेवकानां खेदः । अनवसरबोधान्मुनीनाम् । × लक्ष्म्याः संतोषार्थमिति केचित् । कदाचित्

लक्ष्म्या गर्वे जाते, तन्निवृत्त्यर्थं लोकान्तरं परिकल्प्य, तत्र जयबिजयौ द्वारपालकौ निवेश्य, स्वयं प्रविष्टस्ताभ्यां लक्ष्म्या निरोधं कारितवान्। ततः प्रभृति तस्या मनसि तयोरस्वरसोऽस्तीति। केचित् पुनर्जन्मत्रयलग्नकार्यार्थं शेषलक्ष्मीसुदर्शनान्यागतानीत्याहुः ।।३७।।

व्याख्या—जब यों हुआ तब उसको जानकर उस समय ही उस स्थान पर पधारे, (तदेव) उस समय ही कहने का भाव यह है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं उनको जानकारी देने की आवश्यकता नहीं थी, यदि भगवान् सर्वज्ञ है तो पहले ही क्यों नहीं उपाय किया ? जिसके उत्तर में कहते है कमल नाभ होने से सृष्टि पैदा करने वाले आप हैं, अतः पहले नहीं किया यों अर्थ (तात्पर्य) है इस विषय में यह संदेह होता है कि, भगवान् ने मुनिओं का भी अपराध (दोष समझा कि, केवल सेवकों को ही दोषी जाना, दोनों के दोषी होने में युक्तियाँ मिल सकती हैं इस पर निर्णय करते हैं कि 'स्वानां विबुध्य सदतिक्रमं' अपने सेवकों ने सन्तों का अपमान किया इसलिये वे अपराधी हैं, क्योंकि सन्तो का जो अपमान किया है वह पहला अपराध इन्होंने किया है। लोक में भी जो पहले अपराध करता है वह दोषी माना जाता है और वह ही दण्ड के योग्य होता है, जो बिना आज्ञा लिये ही घुस गये वे, दोषी क्यों नहीं ? इसका उत्तर देते हैं कि 'आर्यहृद्यः' भगवान् को जो सन्मार्ग पर चलने वाले हैं वे प्रिय है, अथवा सन्मार्गियों को भगवान् प्यारे हैं, अतः वे बिना पूछे चले आये इसमें दोष नहीं, इन प्यारों का आना उचित ही था, दोनों की कृति का समर्थन करने के लिये वहा आप स्वयं भगवान् पधारे, आप स्वयं इसलिये पधारे कि मुनिओं को मेरे सेवकों ने भीतर आने से रोका है अतः उनको भीतर प्रवेश कराना योग्य नहीं है उनको दर्शन की इच्छा है और वे दर्शन करने योग्य भी है, इसलिये उनको दर्शनार्थ भीतर न बुलाकर आप स्वयं भगवान् लक्ष्मी जी सहित चरणों से चलकर उस स्थान पर आ गये, कारण कि उनको भगवच्चरणों के दर्शन की उत्कण्ठा थी। प्रभु चरणों से चलकर पधारे जिससे आपको श्रम हुआ यह देख दोनों को खेद हुआ होगा, इस पर कहते हैं कि सेवकों को तो खेद होना उचित ही है किन्तु मुनिओं को भी खेद होना योग्य है। कारण कि परमहंस तथा महामुनि, दोनों दर्शन के लिये चरणों को ढूँढ रहे हैं, परमहस पद मे धर्म का निष्कर्ष बताया और महामुनि पद से ज्ञान का उत्कर्ष जनाया है, दोनों में जो उत्कर्ष हो वे भगवान् के चरणों को ढूँढने वाले होते हैं। इससे कर्म और ज्ञान दोनों काण्डों के अर्थ की सिद्धि हो जाती है यों बताया है शेष भक्ति ही रहती है। लक्ष्मी जी को प्रभु ने साथ में लिया जिसका भाव यह था कि मुनियों को बताना था कि जिस समय आप दर्शनार्थ भीतर आ रहे थे वह दर्शन का समय नहीं था फिर भगवान् श्री (लक्ष्मी जी को साथ में बाहर ले आये, जिससे सेवकों को दुःख हुआ मुनिओं को भी यह मालूम हो गया कि हम दर्शन के समय न होने पर दर्शन करना चाहते थे यह हमारा दोष (भूल) था जिससे उनको भी दुःख हुआ।

मतान्तर बताते है--कितने ही कहते है कि (१)-लक्ष्मी जी को सन्तोष हो इसलिये उनको साथ में ले पधारे (२)-किसी समय लक्ष्मीजी को गर्व हुआ उस गर्व को मिटाने के लिये भगवान् ने दूसरा लोक (वैकुण्ठ लोक) रचकर वहाँ जय और विजय को द्वारपाल बनाकर आप उसमें प्रवेशकर (जाके) विराजे। द्वारपालों द्वारा लक्ष्मीजी को भीतर प्रवेश करने नहीं दिया, उसी दिन से लक्ष्मीजी के मन में उन (जय विजय) के लिये द्वेष रहा हुआ है, और फिर कोई कहते हैं कि इनका, तीन जन्मों से सम्बन्ध कार्य करने के लिये शेष, लक्ष्मी और सुदर्शन भी आये इसमें दिखाये गए दो मत श्रीधर जी के नहीं है कोई दूसरों के हैं। ॥३७॥

आभास—समगतं भगवन्तं वर्णयति—तं त्वागतमित्यादिपञ्चभिः । पूर्वं वैकुण्ठवर्णनायां भगवान्न वर्णित इति पञ्चविद्याप्रवर्तकत्वेनाऽत्र वर्णितः ।

आभासार्थ--इस समय पधारे हुए भगवान् का वर्णन 'तत्वागतं' श्लोक से लेकर पाँच श्लोकों में करते हैं कारण कि पहले जब वैकुण्ठ का वर्णन किया तब भगवान् का वर्णन नहीं किया था। इसलिए (भगवान्) पाँच विद्याओं की प्रवृत्ति कराने वाले होने से यहाँ पाँच प्रकार से पाँच श्लोकों में वर्णन किया है--

कारिका– **समागमक्रियायुक्तम्, समागमनहेतुकम् । समागत्य स्थितं चाऽपि, दृष्टम्, नतमिति क्रमः ॥१॥**

कारिकार्थ–पधारने की जैसी क्रिया थी, इसका वर्णन ३८ वें श्लोक में पधारने का प्रयोजन ३९ वें पधारकर जिस प्रकार स्थित हुए उसका ४० वें तथा दर्शन दिये उसका वर्णन ४१ वें और फिर नमन का वर्णन ४२वें श्लोक में है—

आभास—तत्र समागच्छन्तं वर्णयति

आभासार्थ—निम्न श्लोक में पधारते हुऐ भगवान् का वर्णन करते हैं--

श्लोक—तं त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुम्भिस्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम् ।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोलच्छुभ्रातपत्रशशिकेसरशीकराम्बुम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—मुनिओं ने अपनी समाधि के विषय प्रभु को चरणारविन्दों से शीघ्र आते हुए अपने नेत्रों के पास पहुंचा हुआ देखा उनके साथ पार्षद गण भी छत्रचवरादि लेकर चल रहे हैं, वे पार्षद प्रभु के दोनों और राजहंस के पंखों के समान दो श्वेत चवंर डुला रहे थे, उन चँवरों की शीतल वायु से प्रभु के श्वेत छत्र में लगी हुई

मोतियों की झालर हिलती हूई यों शोभित हो रही थी वा दिखाई देती थी कि मानो चन्द्रमा की किरणों से अमृतमय छोटे छोटे से कण आकर सबको शीतल कर रहे हैं ।।३८।।

सुबोधिनी—तं स्वागतमिति । तं भगवन्तम् सेवकवन्न भवतीति तुशब्दः । **आगतमिति** दृष्टि पर्यन्तं शीघ्रमेव समागतम् । **स्वपुम्भिः** स्वसेवकैः प्रतिहृतमग्रे स्थापितं गमनौपयिकं पादुकादि यस्य । तयोश्चरणपतितत्वात् ते मुनय एवाऽचक्षत । तैः पूर्वमपि तथैव हृदये दृश्यते, तथापीदानी**मक्षविषयमचक्षत** । स हि स्वेच्छया अचक्षुर्विषयोऽपि चक्षुर्विषयो जातः । तेषां प्रत्यभिज्ञामाह-**स्वसमाधिभाग्यमिति** । स्वस्य समाधिं भजत इति, समाधेर्वा भाग्यम् । कदाचित्समाधौ एवंभूतो भगवानाविर्भवति, तदा समाधेर्भाग्यं भवतीति । एवं समाधावपि दुर्लभ इदानीं चक्षुर्विषयो जात इति तेषां भाग्यम् । समागमश्रमाभावाय छत्रेण चामराभ्यां च सहितं वर्णयति । हंसस्येवं श्रीर्ययोः। उभावपि श्वेतौ चामरौ रत्नदण्डौ अग्रे नम्रौ नम्रपुच्छाविव भासेते । तयोर्व्यंजनयोर्यः **शिवो वायुः**, तेन **लोलच्छुभ्रं यदातपत्रं** छत्रम्, स एव शशी अमृतस्रावी चन्द्रः, तस्य केसरा अमृतबिन्दुयुक्तकिरणा इव परितो बद्धा मुक्तामालाः । तद्गता मुक्ता एव वायुना लोलाः शीकराम्बुप्राया भवन्ति । **शीकरा** अलककणाः । वायुना भगवन्तमल्पं स्पृशन्त्यतः शीकराम्बुत्वम् । अत्राम्बुपदं शैत्यसूचनार्थम् । सर्वत्रैव शीकरा बहुजलप्राया जाता इति वाऽम्बुपदम् । केसरपदेन सारैभ्यं लक्षितम् । मान्द्य-शैत्ये स्पष्टे । शशित्वात् तापहहारित्वं सिद्धम् । अम्बुत्वात्तृषाऽपि । आवपत्रत्वादेव छाया । हंसत्वाल्लीलाजनकत्वम् । कल्याणो वायुरित्युत्कृष्टसर्वगुणो वायुरत्र निरूपितः अत एव व्यजनयोः संबन्धी उक्तः, अन्यथा महाभूतो वायुश्चालनेनाऽभिव्यक्तो भवेत् । स च कालादिधर्मसहित इति न निसर्गतः शीतलः ।।३८।।

व्याख्या—उन्होंने (मुनियों ने) भगवान् के कैसे दर्शन किये ? दृष्टिगत शीघ्र ही पधार आये; किन्तु सेवक की तरह नहीं स्वामी के समान इसलिए 'तु' शब्द दिया है इनको यह भी दृष्टि गोचर हुआ कि, भगवत्सेवकों ने पधारने के समय जिन पादुकादि सामग्रियों की आवश्यकता थी वे सब आगे धर दी थी और मुनियों ने उन देवों को चरणों पर पड़ा हुआ भी देखा, उन्होंने (मुनियों ने) पहले भी ऐसे ही दर्शन किए थे किन्तु हृदय में किये थे नेत्रों, से प्रत्यक्ष नहीं किए थे अब साक्षात् (प्रत्यक्ष) नेत्रों से दर्शन किये, यद्यपि भगवान् के इन नेत्रों से दर्शन नहीं हो सकते हैं परन्तु जब उनको अपनी इच्छा दर्शन देने की होती है तो इन नेत्रों को भी दर्शन दे देते हैं कारण कि स्वतन्त्र प्रभु हैं, उन (प्रभु) की पहचान 'स्वसमापि भाग्यं' पद से देते हैं यह प्रभु समाधि में भी कदाचित् प्रकट होते हैं, जब प्रकट होते हैं तब समाधि का भाग्य समझा जाता है इससे यह कहा है कि जिनके

समाधि में भी दर्शन दुर्लभ हैं वे अब नेत्रों से कृपाकर दर्शन दे रहे हैं ऐसे उनके (मुनि आदि के) भाग्य उदय हुए।

प्रभु को पधारने में श्रम नहीं हुआ इसलिये आप छत्र चंवरादि के साथ पादुकाओं से पधारे हैं जिनकी हंस जैसी (श्वेत) शोभा है ऐसे दो चँवरों में हुए रत्नदंडो से हंस के पूँच्छ के समान शोभित दोनों तरफ झूल रहे थे। जिनकी सुखद वायु श्वेत छत्र को झुला रही थी, जो चन्द्र के समान छत्र अमृत वर्षा रहा था, क्योंकि अमृत बिन्दु के समान किरणों वाली मुक्ताओं (मोतियों) की झालर बन्धी हुई थी, वे मोती ही वायु के चलने से जल की बिन्दुओं के समान दिखते थे, 'शीकरा:' पद से यह सूचित किया है कि वे (मोती) नन्हीं–नन्हीं (स्वल्प) बिन्दु के समान वायु से चलित हो भगवान् का थोडा सा स्पर्श कर रहे थे। अत: 'अम्बु' पद से शीतलता का सूचन हुआ है अथवा सर्वत्र हो शीकर बहुत जल वाले हो गये, इसलिये 'अम्बु' पद दिया है 'केसर' पद से सुगन्धि का सूचन किया है, मन्दत्व और शीतलता तो स्पष्ट है ही, 'शशित्व' से तपत बुझाना सिद्ध ही है, अम्बुत्व कहने से तृषा मिटाने को प्रकट किया है। छत्र था इसलिये छाया भी थी, हंसत्व कहने से लीला कर्तृत्व (करना) कहा है कल्याण रूप वायु कहने से बताया है कि यह वायु सकल वायुओं से उत्तम है इसलिये यह वायु चंवरों का सम्बन्धी है यदि यों न होता तो महाभूत वायु अपनी चाल से ही प्रकट हो जावे कारण कि उस वायु में कालादि धर्म होने से समय समय पर बदलता रहता है यह कल्याणी वायू स्वभाव से शीतल नहीं रहता है यह कल्याण वायु स्वभाव से शीतल है अत: आनन्दप्रद है इत्यादि हेतुओं से प्रभु को पधारने में परिश्रम नहीं हुआ ॥३८॥

आभास——एवमागच्छन्तं वर्णयित्वा तस्याऽऽगमनहेतुरूपं वर्णयति——

आभासार्थ—यों पधारते हुए भगवान् का वर्णन कर अब निम्न श्लोक में आगमन के हेतु के रूप का वर्णन करते हैं—

श्लोक——कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम् ।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्वश्चूडामणिं सुभगयन्तमिवाऽऽत्मधिष्ण्यम् ३९

श्लोकार्थ—सर्व के ऊपर कृपा करने के लिए सुन्दर मुखवाले, वांच्छनीय कान्ति वाले, स्नेह रूप देखने की कला से हृदय में प्रविष्ट होने वाले श्याम एवं विशाल वक्ष स्थल पर शोभित लक्ष्मी से, स्वर्गादि के चूड़ामणि (शिरोमणि) रूप अपने स्थान (वैकुण्ठ) को सौभाग्यशाली कर रहे थे ॥३९॥

सुबोधिनी— **कृत्स्नप्रसादसुमुखमिति**। भगवतो वैकुण्ठे स्थितिः, वैकुण्ठनिर्माणम्, विवादस्थाने समागमनं च सर्वेषामुपकारार्थे। ब्रह्माण्डे यदि वैकुण्ठस्थानं न भवेत् तदा कुत्र गत्वा ब्राह्मादयः कार्यं निवेदयेयुः; यदि वा तत्र भगवान् न तिष्ठेत्, तदा निवेदिते कार्ये कथमवतरेत्; यदि वा तत्र भगवान् नागच्छेत्, तदा कथं सर्वसमाधानं भवेदिति। अतः संपूर्णा एव ब्राह्माण्डे ये वर्तन्ते, तेषां प्रसादार्थं सुमुखम्। अनेन भगवदागमनं कस्याऽपि नाऽपकारि, मुनीनां जयविजययोश्च। अङ्गमित्यस्य सर्वाणि विशेषणानि। स्पृहणीयधाम। स्पृहणीयं धाम तेजो यस्य। दीपादिकान्तिः सर्वेषां न स्पृहणीया, नाऽपि सर्वदा; इदं त्वानन्दरूपमिति स्पृहणीयत्वम्। धामपदं कान्त्यैवाऽऽनन्दजनकमिति। अनेन पर्यवसानविचाराभावेऽपि सर्वेषां प्रसादहेतुर्भवतीत्युक्तम्। किञ्च, **स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तमिति**। कालान्तर फलहानं दूरे तिष्ठतु, इदानीमेव स्नेहपूर्वकं यदवलोकनं करोति, तस्याऽवलोकनस्यैकदेशेनाऽपि भावितेन भगवान् हृदये निविशति। कलया सह वा हृदि सम्यक् स्पृशन्तम्। अनेन सर्वेषां हृदये तापापनोदो ज्ञानजननं च सूचितम्। एवं विशेषणत्रयेण कार्यतो बहिरन्तश्च सर्वसुखदायि भगवदङ्गमित्युक्तम्। एवमङ्गमात्रस्यैव गुणानुक्त्वा आभरणानामुपयोगमाह-श्यामे पृथाविति। श्यामवर्णे स्थूले वक्षःस्थले, कषपाषाणे सुवर्णरेखेव, श्रीवत्से या लक्ष्मीस्तया कृत्वा **स्वश्चूडामणि** वैकुण्ठं सुभगयन्तं सौभाग्ययुक्तं कुर्वन्तम्। **आत्मधिष्ण्यं** स्वनिवासस्थानम्। भगवान् यत् श्रीवत्सलक्षणं स्वस्याऽसाधारणं रूपं गृहीत्वा तिष्ठति, तद्वैकुण्ठशोभार्थम्; अन्यथा तादृशं रूपं किमर्थं गृह्णीयात्? सर्वस्याऽपि जगतः शोभा स्वर्वः, तस्यापि मुकुटमणिर्वैकुण्ठः, तस्याऽपि शोभा वक्षःस्थलस्थितलक्ष्म्या। अनेन लोकवत् स्थानादिसोन्दर्येण भगवत्सोन्दर्यं न, किन्तु भगवत एव सर्वं सुन्दरं भवतीति निरूप्यते। वैकुण्ठस्य शोभां कुतो जनयतीत्याकाङ्क्षायामाह— **आत्मधिष्ण्यमिति**। इवेत्यनेन नैतावदेव प्रयोजनम्, किन्त्वन्यदप्यस्तीति सूचितम्। श्रिया बिना न कापि शोभा। सा च चञ्चलेति तस्या रमणार्थं श्यामं शृङ्गाररूपम्, स्थूलमालिङ्गनयोग्यम्; तस्याः स्वानन्दत्वादुरःस्थलमासनं कृतम्। हृदये हि सर्वस्य सुखम्, सर्वमेव भगवद्धृदये वर्णत इति सर्वस्याऽपि सुखमपि जनयति। इदमपि वचनमात्रम्, वस्तुतस्तु ब्राह्माण्डमध्ये आनन्दोऽभिव्यक्तिस्तिष्ठति भगवद्रूपः, तेन सर्वं सुखितमिति। एवं श्रीवत्सस्य प्रयोजनमुक्तम्॥३९॥

व्याख्या--भगवान् का वैकुण्ठ में विराजना, वैकुण्ठ बनाना और विवाद के स्थान पर पधारना आदि कार्य सबके हित के लिए ही हैं यदि ब्रह्माण्ड में वैकुण्ठ धाम् न होवे तो ब्रह्मादिक कहां जाकर अपने कार्य पूर्ण करने के लिये प्रार्थना करें ? अथवा यदि वहां भगवान् नहीं विराजते हों तो प्रार्थना होने पर भगवान् कैसे प्रकटे ? अथवा यदि भगवान् स्वयं वहाँ न पधारें तो सबका

समाधान कैसे हो ? अतः ब्रह्माण्ड में जो सब हैं उन पर कृपा करने के लिए आपने सुन्दर मुखाकृति स्वरूप धारण किया है। इससे भगवान् का पधारना मुनियों वा जय विजय में से किसी के लिए हानिकारक नहीं है। ४२ वें श्लोक में आने वाले ‘अङ्ग’ पद के ये सब विशेषण हैं ‘स्पृहणीयधाम’ जिस (प्रभु) का तेज चाहने योग्य है दीपादि के तेज को सब नहीं चाहते हैं और न सर्वदा चाहते हैं क्योंकि उस तेज से आनन्द प्राप्ति नहीं होती है परन्तु इन प्रभु के तेज से आनन्द की प्राप्ति होती है कारण कि ‘आनन्द रूप’ हैं ‘धाम’ पद से यह सूचित किया है कि कान्ति से ही आनन्द उत्पन्न करने वाले हैं इससे यह प्रकट किया है कि परिणाम के विचार किये बिना ही (भी) सबके लिये कृपा के कारण बने हैं किञ्च ‘स्नेहावलोक कलया हृदि संस्पृशन्तम्’ पद से बताया है कि आप दूसरे समय में (अर्थात् अब दर्शन देने के समय में न देकर (बाद में) फलदान करेंगे यह बात नहीं है, किन्तु अब ही स्नेहपूर्वक जो अवलोकन आप कर रहे हैं उससे उस अवलोकन के एक भाग के भी चिन्तनमात्र करने से प्रभु हृदय में पधार जाते हैं, अथवा कला के साथ हृदय को स्पर्श कर रहे हैं जिससे सर्व के हृदय के ताप दूर करते हैं एवं उसमें ज्ञान उत्पन्न करते हैं यह सूचित किया है, इसी तरह उपयुक्त तीन विशेषणों से कार्य द्वारा बाहर तथा भीतर सबको सुख देने वाले आपके श्री अङ्ग हैं यह सूचित किया है। इसी तरह अङ्गमात्र के ही गुणों को कहकर आभूषणों के उपयोग का वर्णन करते हैं।

‘श्यामे पृथावुरसि’ श्याम वर्ण वाले स्थूल वक्षस्थल पर, जैसे कसोटी पर सुवर्ण की रेखा उसी तरह श्री वत्स पर विराजमान लक्ष्मी से स्वर्गों के शिरोभूषण वैकुण्ठ को सौभाग्य शाली बनाते, वह ‘आत्मधिष्ण्य’ वैकुण्ठ अपने रहने का स्थान है, भगवान् जो श्री वत्स चिन्ह वाला अपना अपना असाधारण रूप ग्रहण कर वैकुण्ठ में विराजते हैं वह वैकुष्ठ की शोभा के लिये ही है अन्यथा (नहीं तो) ऐसा रूप क्यों धारण करे ? समस्त जगत् की शोभा स्वर्ग है उसका मुकुटमणि वैकुण्ठ है। उस (वैकुण्ठ) की शोभा वक्षः स्थल में स्थित लक्ष्मी से है। इससे यह सूचित किया है कि जैसे स्थानादि की शोभा से लोक की (नगर की) शोभा होती है वैसे ही भगवान् की सुन्दरता वैकुण्ठादि स्थानों से नहीं है किन्तु भगवान् की सुन्दरता से ही सर्व सुन्दर हुवे हैं, यों निरूपण किया गया है। वैकुण्ठ की शोभा कहाँ से वा कैसी हुई (होती) है ? तो कहते हैं—‘आत्मधिष्ण्यम्’ अपने स्थान (निवास स्थान) से शोभा हुई है। ‘इव’ पद से कहते है कि इतना ही प्रयोजन नहीं है किन्तु दूसरा भी है। लक्ष्मी के बिना कुछ भी शोभा नहीं है। वह तो चञ्चल है, इसलिए उसके रमण के लिये श्याम रूप धारण किया है जो वर्ण शृङ्गार रूप है, स्थूल वक्षः स्थल आलिङ्गन योग्य है, उस (लक्ष्मी) के आनन्दार्थ वह स्थान (वक्ष स्थल) रहने के लिये दे दिया है। हृदय पर ही सर्व को सुख प्राप्त होता है क्योंकि सब कुछ भगवान् के हृदय में ही रहता है इसलिये सबको सब तरह उससे सुख होता है यह भी केवल कहने के लिये है। वस्तुतः तो ब्रह्माण्ड में जो आनन्द प्रकट है वह ही भगवद्रूप है उससे सब सुखी हैं इसी तरह श्री वत्स का प्रयोजन बताया है ॥३९॥

आभास—पीताम्बरादीनां प्रयोजनमाह—

आभासार्थ—पीताम्बरादि वस्त्रों का प्रयोजन कहते हैं।

श्लोक—पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या काञ्च्याऽलिभिर्विरुतया वनमालया च।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—प्रभु के पीताम्बर से सुशोभित, विशाल नितम्बों वाली कटि पर चमकती हुई करधनी लटक रही थी, भ्रमरों से गुंजित वनमाला गले में धरी थी, वैसे ही कलाईयां सुन्दर वलयों (कंगण वा बाजूबन्द) से सुशोभित थीं, अथवा सुन्दर कलाईयों में वलय पहने हुए थे। ऐसे प्रभु अपना एक हस्तकमल गरुडजी के कन्धों पर धर दूसरे हस्त से कमल को फिराते हुवे दर्शन दे रहे थे ॥४०॥

सुबोधिनी— पीतांशुक इति। पीतमंशुकं यस्य, एतादृशे स्थूलनितम्बयुक्ते कटितटे, पीताम्बरोपरि विस्फुरन्त्या काञ्च्या, भ्रमरैर्विशेषेण विरुतया वनमालया च आत्मधिष्ण्यं सुभगयन्तमिति संबन्धः। आत्मन स्वस्य पुरुषोत्तमस्य धिष्ण्यं जगद्रूपं वा। पीताम्बरं वेदः, तद्भूमौ प्रसृतं यज्ञादिद्वारा हृदयादिशुद्धिं संपाद्य, आत्मनामात्मनो वा धिष्ण्यत्वं, धिष्ण्यमन्तःकरणादिकं वा शोधयति। नितम्बा हिमालयादिसमीपभूमयः, ते पृथवः सर्वफलजनकत्वात् कर्मभूमिरूपाः। तद्यदि भगवानाधिदैविके रूपे पीताम्बरं स्थापयति तदैवाऽत्र वेदः प्रचरति, तदैव च भगवतोऽधिष्ठानं सर्वेषां हृदयं भवति। तत्र विस्फुरन्ती या काञ्ची काञ्चननिर्मितं दाम उपनिषदर्थरूपम्, तया सुतरामेव महतां हृदयमधिष्ठानं भवति। विस्फुरन्त्येति योगादिसहितया। यद्येतादृशी ब्रह्मविद्या न भवेत्, तदा कुत्राऽपि भगवत्स्थितिर्न भवेदिति। वनमालया च भगवद्गुणकीर्तनरूपया। अलयो भ्रमा मृत्युरहिताः षड्गुणयुक्ता भगवद्भक्तास्तेषां गुणानां वक्तारः, सत्कीर्तितभगवद्गुणव्यतिरेकेणाऽपि भगवान् न हृदये तिष्ठति। अतो मूले पीताम्बरकाञ्चीदामवनमालानां धारणे भूमौ मार्गत्रयं प्रसिद्धं तिष्ठतीत्यर्थः। चकाराद्भगवत्कृपया च उपवीतादिरूपया। एवं त्रयाणां विनियोगमुक्त्वा बलयादित्रयस्य विनियोगमाह—वल्गुप्रकोष्ठे वलयो यस्य। चत्वारो भगवद्धस्ताश्चतुःपुरुषार्थरूपाः, तत्र तत्र क्रियास्तत्तत्साधका हस्तरूपाः, तेषां शोभा भगवतश्चतुर्मूर्त्तेर्ज्ञाने भवति। वलयाः तज्ज्ञानात्मकाः, ते चेत्तत्र न प्रतिष्ठिताः, तदा न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येदिति पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं बलयोपयोगः। गरुडो हि कालात्मा, स भगवत्पराक्रमेण प्रतिरुद्धः, अन्यथा भक्तानपि भक्षयेत्। विशेषेण नता या भगवन्माया, तस्याः पुत्रो गरुडः कालः। सैव श्रद्धेति वैष्णवतन्त्रे। तस्यांऽसे स्कन्धे, प्राणिनाम दृष्टे प्रवाहे वा, विन्यस्तो हस्तो येन। इतरेणेति बचनात् भक्तानामर्थे एको व्यापारः, लोकानां भ्राम-

णार्थे चाऽपर इति। तदाह–इतरेण धुनानमब्जमिति। इतरेणेति विशेषतो भगवत्संबन्धरहितानेव मोहयतीति ज्ञापितम्। अब्जं जगदात्मकं कमलम्, भगवच्छब्दार्थं वा लीलाकमलमितरेषु कम्पयति ।।४०।।

व्याख्या—पीताम्बर से सुशोभित विशाल नितम्बों वाली कटि पर चमकती हुई करधनी से और भ्रमर गुञ्जित वनमाला से अपने स्थान (वैकुण्ठ अथवा जगत्) को सुशोभित कर रहे हैं।

यह पीताम्बर वेदरूप पृथ्वी पर फैला हुआ यज्ञादि द्वारा हृदयादि की शुद्धि कर आत्माओं के स्थान (आसन) रूप अन्तःकरण को सुशोभित करता है। 'नतम्बा' पद से हिमालयादि के समीप जो विस्तृत रूप में भूमियाँ हैं वे सर्व प्रकार के फल जनक होने से कर्मभूमि रूप हैं अतः भगवान् के नितम्बवत् है, इससे यदि भगवान् आधिदैविक रूप में पीताम्बर को धारण करते हैं तब ही यहाँ (भूमि पर) वेद का प्रचार होता है, तब ही भगवान् का हृदय सर्व का अधिष्ठान होता है, उस पर चमकती हुई सुवर्ण की बनी हुई करधनी (कन्दोरा) उपनिषदों का अर्थ रूप है उससे सुतरां ही महत्पुरुषों का हृदय भगवान् का अधिष्ठान हो जाता है 'तस्फुरन्त्या' चमकती हुई कहने का भाव है कि वह करधनी योगादि सहित ब्रह्मविद्या है, यदि वैसा न होवे तो कहीं भी भगवान् की स्थिति (विराजना) न हो सके 'वनमाला' जिसका तात्पर्य है कि भगवग्दुणों का कीर्तन ही बनमाला है 'अलयः' पद से यह सूचित किया है कि जिन्होंने काल को जीत लिया है ऐश्वर्यादि ६ गुण जिनमें विद्यमान (मौजूद) हैं वैसे तो भगवद्भक्त इन गुणों का गान कर रहे हैं वे यहां भ्रमर माने गये हैं। यदि ऐसे भक्त भगवग्दुण गान न करें तो भगवान् हृदय में नहीं विराजते हैं, इससे ही अर्थात् पीताम्बर, करधनी तथा वनमाला इन तीनों को भगवान् ने धारण किया है तब पृथ्वी पर भगवात्प्राप्ति के तीन मार्ग प्रसिद्ध चल रहे हैं। 'च' से सूचित किया है कि विशेष भगवत्कृपा उपवीतरूपा है, इसी तरह तीनों का विनियोग बताकर वलयादि तीन आभरणों का विनियोग (भावार्थ) कहते हैं, भगवान् के चार हस्त चतुः पुरुषार्थरूप हैं। पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये जो क्रिया करनी पड़ती है उसके साधक (सिद्ध करने वाले) ये चार हाथ हैं; उनकी शोभा चतुर्मूर्ति भगवान् के ज्ञान होने पर समझी व देखी जाती है। उनकी कलाईयों में जो वलय है वे ज्ञानरूप हैं यदि ज्ञान रूप वलय वहाँ धारण न किये होते तो कोई भी पुरूषार्थ सिद्ध नहीं होता अतः पुरुषार्थ सिद्धि के लिये ही वलयों का उपयोग (धारण) है।

गरुड़ कलात्मा है वह भगवान् के पराक्रम से रुका हुआ है नहीं तो भक्तों को भी खा जावे, कारण कि गरुड़, विनता नाम वाली जो भगवान् की माया है उसका पुत्र गरुड़ काल है, वह ही श्रद्धा है यों वैष्णव तंत्रों में कहा है, उस गरुड़ के कन्धे पर अथवा प्राणियों के अदृष्ट प्रवाह में, आपने एक हस्त धरा है जिससे वे रुके हुवे हैं 'इतरेण' इस वचन से यह सूचित किया है कि भक्तों के लिये एक व्यापार (कार्य) लोकों के भ्रमणार्थ, दूसरा कार्य, इसको कहते हैं 'इतरेण धुनानमब्ज्यं' अन्य

हस्त से कमल फिरा रहे हैं, दूसरे हस्त कहने का आशय यह है कि भगवत्सम्बन्ध रहितों को मोह उत्पन्न कर रहे हैं, 'अब्जं' पद से जगत रूप कमल अथवा अन्यों के ऊपर लीलारूप कमल फिरा रहे हैं ।।४०।।

आभास—कुण्डलादित्रयस्य विनियोगमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में कुण्डलादि तीन का विनियोग कहते हैं—

श्लोक—विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्हगण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम् ।
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्ध्यहारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन ।।४१।।

श्लोकार्थ—बिजली की प्रभा (रोशनी) को भी तिरस्कृत करने वाले मकराकृति कुण्डलों से सुशोभित योग्य कपोल और उभरी हुई नासिका युक्त मुख वाले, शिर पर मणिमय मुकुट धारण वरने वाले प्रभु को चारों भुजाओं के मध्य में महा मूल्यवान हार से और गले में कौस्तुभ मणि से शोभा अपूर्व हो रही थी ।।४१।।

सुबोधिनी—विद्युत्क्षिपदिति । विद्युतमपि क्षिपतो ये मकराकृते कुण्डले, तयोर्मण्डनमर्हति यद्गण्ठस्थलम्, ऊर्ध्वा नासिका च; ताभ्यां युक्तं मुखं यस्य । मणियुक्तं किरीटं यस्येति च । शिरो द्विधा वर्णितम्, वृत्तरूप कोशस्थानरूपं च । साङ्ख्ययोगौ कुण्डले, विद्युन्मृत्युः, कपोलद्वयं च प्रेमप्रपत्ती । साङ्ख्ययोगौ तयोरङ्गम्, वैतृष्ण्ये भगवत्स्मरणे चोपयुज्येते । तौ चेन्मृत्युनिवारकौ भवतः, तदेवाऽस्मिन् शास्त्रे उपयुक्तौ । मकरो हि जलग्राह. प्राकृतं शरीरादिकं ग्रसति, तथाऽभिमानं शरीरं च साङ्ख्ययोगौ ग्रसतः । ताभ्यां कृतमण्डनस्याऽप्राकृतरूपस्य योग्यं भवति गण्डस्थलम् । तादृश एव भक्तिप्रपत्ती उत्पद्येते । यतः सर्वदोषाभावो नासिका, सा चेदूर्ध्वा भवति, तदा भक्तिमार्गः शोभते । औपनिषदं ज्ञानं शिरः, तत् साध्यं पारमेष्ठ्यं वा । तदपि मणियुक्तकिरीटयुक्तम्, मणिस्तत्र भगवत्स्थाने गच्छन्तो भक्ताः । ते चेत्तत्र न गच्छेयुः, सत्यलोकस्य शोभैव न स्यात् । अतो मणिमत्किरीटं यन्मुकुटे स्थापयति, तेन भक्तास्तत्र प्रतिष्ठिता भवन्ति । हारस्य प्रयोजनमाह-**दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्ध्यहारेणेति** । दोर्दण्डाश्चत्वारः, तेषां षण्डं समूहः । तस्य विवरे मध्ये हरता; हरतीति हरन्; मनोहरेण । त्रैलोक्यशोभां वा हरता, उपलक्षणे तृतीया । मुक्ताहारो मुक्ताः सर्वे हारा एवेति । ते हि स्वसंघातं हरन्ति, तेषां समूहो हारः । ते चाऽस्मिन्ब्रह्माण्डे परार्ध्याः । परं ब्रह्मण आयुः, तदर्घ्यं मूल्यं येषाम् । ब्रह्मण उत्पत्तिक्षणमारभ्य तत्समाप्तिपर्यन्तं ब्रह्माण्डान्तरे कृतपुण्यपुञ्जा ये, ते परार्ध्याः । परार्ध्येति पाठे अस्मिन्नेव ब्रह्माण्डे पूर्वोक्तन्यायेन परार्द्धमायुर्हरन्तीति परार्ध्याः । ते च ते हाराश्चेति । ते च भगवता महता प्रयत्नेन संरक्षितास्तेभ्यः परितो दोर्दण्डाः । अशक्यप्रतीकारदोषनिवृत्त्यर्थं पुनर्विवरे स्थापिताः । दोषो दण्डत्वम्, बाधकत्येन

समागतानां प्रहरणार्थं म्, न तु रक्षामात्रार्थत्वम् । एवं हारमुक्त्वा कौस्तुभविनियोगमाह-कन्धरा कण्ठः, कं शिरो धारयतीति; सुखधारकश्च । तद्गतेन कौस्तुभेनाऽप्युपलक्षितः । कौ पृथिव्यां स्तोत्रेण भान्तीति ये भगवद्भक्ता मुक्ताश्चत्यस्य तत्त्वात्मकाः, तेषां समूहः कौस्तुभम् । ते चाऽऽनन्दधारके योजिताः । कौस्तुभं चेद्भगवान्न स्थापयेत्, भक्तानां ब्रह्मानन्दो न स्यात् । चकारादन्यदपि कण्ठाभरणं लक्ष्यते, गोपिकादितत्त्वरूपम् । यथास्थितचकाराच्च वक्षस्थलेऽपि कौस्तुभस्य स्थितिर्बोध्यते । तदा गोपिकादोनामन्येषां वा भक्तानां जगत्प्रकाशकत्वं सिध्यति ॥४१॥

व्याख्या – बिजली को भी तिरस्कृत करने वाले जो मकराकृति वाले दो कुण्डल उनसे सुशोभित गण्डस्थल और उभरी हुई नासिका से युक्त है, मुखारविन्द जिनका, शिर पर जिनने मणियुक्त मुकुट धारण किया है इससे शिर के दो रूप वर्णन किये एक गोलाकार और दूसरा कोश का स्थान रूप, दो कुण्डल साङ्ख्य और योग विद्या के स्वरूप हैं, बिजली मृत्यु रूप योग तथा साङ्ख्य विद्या मृत्यु का तिरस्कार करती है । दो कपोल (गाल) प्रेम एवं प्रपत्ति (शरणागति) हैं साङ्ख्य और योग प्रेम और शरणागति के अङ्ग हैं, वे वैराग्य प्राप्ति के लिये तथा भगवत्स्मरणार्थ उपयोग में लिये जाते हैं, वे दो शास्त्र मृत्यु निवारक होते हैं तब ही इस (प्रेम और प्रपत्ति) शास्त्र में उपयोगी बनते हैं, जैसे जल जन्तु मकर (मगर) प्राकृत शरीर को ग्रस लेता है वैसे ही साङ्ख्य और योग शास्त्र मकर रूप होके अभिमान और शरीर को ग्रस लेते हैं उन दोनों से सुशोभित गण्डस्थल अप्राकृत रूप के योग्य होता है । ऐसे हो जाने पर ही प्रेम (भक्ति प्रपत्ति (शरणागति) पैदा होती है, क्योंकि सकल दोषों का अभाव रूप आपकी नासिका उभरी हुई हैं, जिससे भक्ति मार्ग की शोभा होती है । उपनिषदों का ज्ञान आपका शिर हैं अथवा ज्ञान से प्राप्य पारमेष्ठ्य, वह (शिर) भी मणियुक्त किरीट जिसके मुकुट में स्थापित करते हैं यों कहने से यह सूचित किया है कि ये मणि भक्त रूप हैं अतः भगवान् के स्थान पर जा रहे हैं यदि वे न जावें तो सत्य लोक की शोभा ही न होवे, भक्तों की सत्यलोक में स्थिति का कारण भगवान् का मणिमय मुकुट अपने मस्तक पर धारण करता है । हार का प्रयोजन कहते हैं 'दोर्दण्डखण्ड विवरे हरता परार्ध्यहारेणाति' हस्त रूप डण्डे चार हैं उनके समूह के मध्य में मनोहर (मन को हरने वाले) अथवा तीनों लोकों को शोभा को हरने वाले हार हैं, 'हरता' तृतीया पहचान कराने वाला यह चिह्न है इसलिये दी है, 'मुक्ताः' पद से यह गूढाभिप्राय बताया है कि मुक्तजीव हार हैं, वे (मुक्त जीव) अपने संघात (पाञ्च भौतिक देह) का हरण करते हैं उन जीवों का समूह वह मुक्ताहार, वे मुक्त जीव इस ब्रह्माण्ड में परार्ध्य हैं ब्रह्मा की आयु जिनका मूल्य है, अर्थात् ब्रह्मा की उत्पत्ति के समय से लेकर समाप्ति पर्यन्त अन्य ब्रह्माण्ड में पुण्यपुञ्ज इकट्ठा करने वाले परार्ध्य हैं, 'परार्ध्य' पाठ हो तो जिसका अर्थ इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा की अर्द्ध आयु हरण कर लेते हैं । वैसे वे हार परार्ध्य हार कहे जाते हैं । इन हारों (मुक्त जीवों) की

रक्षा भगवान् महान् प्रयत्न से कर रहे हैं इसलिए इन के चारों तरफ हस्त रूप डंड रखे हैं जिनका उपाय न हो सके ऐसे दोषों को दूर करने के लिए हस्त रूप डंडो के मध्य में उनको रखा है, हस्तों को केवल रक्षार्थं डडे नहीं कहा है, किन्तु दुःख देने के लिए आने वालों के ऊपर प्रहार करने के कारण डडे कहे है। इसी तरह हरि का उपयोग कहकर कौस्तुभ का उपयोग कहते हैं 'कन्धरा' पद के दो तरह से अर्थ कर उनको कंठ कहा है, 'कं (शिरः) धारयति इति कन्धरा कण्ठ' शिर को धारण करने वालो वह कन्धरा अर्थात् कण्ठ 'कं (सुखं) धारयति इति 'कन्धरा कण्ठ' सुख (कौस्तुभ) को धारण करने से कन्धरा कण्ठ है। 'कौस्तुभ' के भावार्थ यह हैं पृथ्वी पर स्तुति से जो, भगवद्भक्त प्रकाशत हो रहे हैं, और मुक्त जीव इसके ही तत्त्व रूप हैं, उनका समूह ही 'कौस्तुभ' मणि है, वे ही कण्ठ में धारण किये हैं यदि कोस्तुभ रूप इन भक्त जीवों को अपने कण्ठ में धारण न करें तो उनको ब्रह्मानन्द प्राप्ति न होवे 'च' से जाना जाता है कि कौस्तुभ के सिवाय अन्य भी आभूषण धारण किये हुवे हैं, जो आभूषण गोपिकादि भक्तों के तत्वरूप हैं, 'च' पद जहाँ श्लोक में आया है। जिससे यों बोध (ज्ञान) होता है कि कोस्तुभ वक्षस्थल पर भी धारण की हुई है तब ही गोपी आदि अन्य भक्त जगत् के प्रकाशक सिद्ध होते हैं ।।४१।।

आभास—एवमाभरणादीनां विनियोगमुक्त्वा अङ्गगतसौन्दर्यस्य माहात्म्यस्य च विनियोगमाह—

आभासार्थ—इस तरह आभरणों का उपयोग बताकर निम्न श्लोक में श्री अङ्ग के सौन्दर्य तथा माहात्म्य का वर्णन करते हैं—

श्लोक-अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः स्वानाँ धिया विरचितं बहुससौष्ठवाढ्यम ।
मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गं नेमुर्निरीक्ष्य नवितृप्तदृशो मुदा कैः ।।४२।।

श्लोकार्थ—भगवान् के श्री अङ्ग बड़े ही सौन्दर्य वाले थे जिसे देख भक्तगण यों कहने लगे कि लक्ष्मी जी का सौन्दर्य इसके आगे फीका पड़ गया है जिससे उसका (लक्ष्मी का) सौन्दर्याभिमान जाता रहा हैं, ब्रह्माजी देवताओं को कहते हैं कि मेरे महादेवजी के और तुम लोगों के लिए, परम सुन्दरता से पूर्ण श्री विग्रह धारण करने वाले प्रभु का दर्शन कर मुनियों ने उन्हें शिरों से सानन्द नमस्कार किया तथा आपको अद्भुत सौन्दर्यवाली आकृति देख तृप्त नहीं हुवे ।।४२।।

सुबोधिनी—अत्रोपसृष्टमिति । इन्दिराया उत्स्मितं सौन्दर्यगर्वोऽत्रोपसृष्टम्, वत्स इव स्तनपानार्थे भगवत्सौन्दर्यलेशप्राप्त्यर्थं प्रस्थापितमित्यर्थः । **इतीति** समाप्तिसूचकम्, हस्तेन दर्शयति च । त्रैलोक्यसौन्दर्यं चाऽत्रोपसृष्टम्, चकरात् ब्रह्माण्डात् परभूतमपि । **स्वानां** भक्तानां निश्चयात्मिकया बुध्या च यद्विशेषेण रचितं ध्यानादिना परिकल्पितम् । सौन्दर्यजनितगर्वश्चोपसृष्टः । सौन्दर्यमेवोपसृष्टम्, गर्वो वा; ततोऽप्युत्कर्षं प्राप्स्यतीति । ये पुनर्लक्ष्म्या भगवति गर्वं प्रतिपादयन्ति, ते लक्ष्म्या दोषमेव कथयन्तीत्युपेक्षणीयाः । शङ्कितमपि तदिति भक्तैः कथमेवं धिया क्रियेत । भगवत्सौन्दर्यप्राकट्यस्याऽयं विनियोगः स्पष्ट एवोक्तः । संस्थानविशेषस्य विनियोगमाह—**बहुसौष्ठवाढ्यमिति** । सौष्ठवमवयवविन्यासप्रकारः । तच्च सौष्ठवं ब्रह्मणा निर्मितकमलादिषु वर्तते । तद्यावत् ब्रह्मणा ज्ञायते तावत् सौष्ठवं तस्य । ततोऽप्यधिकं बहुसौष्ठवम्, तेन च तद्रूपमाढ्यम् । तादृशपि सौष्ठवं पूर्णमित्यर्थः । अनेन ब्रह्माण्डेऽस्मिन् ब्रह्मनिर्मितातिरिक्ता अपि भगवदीया बहवः पदार्था भवन्तीति सूचितम्, अन्यथा मूले तथा सौष्ठवं न प्रकाशितं स्यात् एतावद्दूरे सृष्टिपदार्थानामुपयोग इति नाऽधिकं वर्ण्यते । मूलत्वख्यापनाय माहात्म्यमाह—**मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गमिति** । मह्यमिति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी भगवत्स्वरूपस्य स्वफलत्वख्यापिका । राजसतामससात्त्विका-नामाधिदैविकादि-भेदभिन्नानां सर्वेषामेव भजनीयमङ्गम् । भजनीयमिति वक्तव्ये **भजन्तमिति** सफलं भजनं निरूपयति, '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**' इति वाक्यात् । **भजनीयमिति** पाठस्तु स्पष्टः । सर्वेषां भजनीय-रूपप्राकट्येन सर्वं एवाऽनीश्वरवादा निरस्ताः, अन्यथा प्राप्तमहाफलानां कथं भजनीयः स्यात् ? मोक्षापयोगिपदार्थाश्चैते न भवन्ति, अधिकारिणां कथं भजनीयः स्यात् ? सृष्टौ च कथनं विरुध्येत, नित्य च ब्रह्मादीनां भगवद्भजनम्; अतो मतान्तरव्यावृत्त्यर्थमेव भगवत्प्राकट्यमिति सर्वेषां भगवद्भजनं सूचयति । तेन सनकादयो भगवन्तं दृष्ट्वा तथात्वं ज्ञातवन्त इति निरीक्ष्य नेमुरित्युक्तम् । सर्वे विशेषास्तेषां दृष्टौ स्फुरिता इति नमनं कृतवन्तः । नमने प्राप्तं दोषं वारयति—**न वितृप्तदृश इति** । न विशेषेण तृप्ता दृशो येशाम् । नमस्कारस्य दर्शनप्रतिबन्धकत्वात् बाह्ये तेषां न रस इति नमस्कारो ज्ञापयेत, तद्व्यावृत्त्यर्थम**वितृप्तदृश** इत्युक्तम् । ननु तथापि साधनात्फलमुत्कृष्टमिति दर्शनं परित्यज्य कथं नेमुस्तत्राऽऽह **मुदेति** । सकृद्दर्शनेनैव पूर्ण आनन्दो गङ्गायां घट इव निमग्नः, अतो मुदैव नेमुः । मुदैव हि ते नामिताः, पूर्णानन्दाश्चरणयोः पतिता इत्यर्थः । तथा दृष्टिर्न तृप्तेति तेषां तुच्छत्वं निराकृतम् । कैः शिरोभिः । शिरसा नमस्कारो ब्रह्मविदां ब्रह्मत्वसूचकः ॥४२॥

व्याख्या—लक्ष्मीजी का सौन्दर्य गर्व यहाँ गलित हो गया है, अतः भगवान् की सुन्दरता का लेश प्राप्त करने के लिये वत्स की तरह प्रयत्नशील हो रही है, 'इति' पद समाप्ति की सूचना करता है और हस्त से दिखाता है, कि त्रैलोक्य का सौन्दर्य यहां तिरोहित हो गया है। 'च' शब्द से विशेष कहते हैं कि ब्रह्माण्ड से परे भी जो सौन्दर्य है वह भी फीका पड़ गया है, भक्तों की निश्चयात्मिक बुद्धि से जो विशेष प्रकार से रचा हुआ एवं

ध्यानादि से जिसकी कल्पना की गई है, एवं सुन्दरता से उत्पन्न गर्व जिसके अगाड़ी (आगे) त्यागा गया है, अथवा सौन्दर्य वा गर्व छोड़ दिया है, भगवान् का सौन्दर्य उसे भी उत्कर्ष को प्राप्त करेगा जो लोग कहते हैं कि लक्ष्मी भगवान् से गर्व करती है इसी तरह लक्ष्मी का दोष ही कहते हैं, वे तिरस्कार करने के योग्य है। यों कहना शङ्का युक्त है। वह भक्तजन बुद्धि से ऐसा कैसे करेंगे? भगवान् की सुन्दरता के प्राकट्य का यह विनियोग (उपयोग) स्पष्ट ही कहा है, 'बहु सौष्ठवाढ्यम्' पद से यह दिखाया है कि भगवान् के श्री विग्रह के प्रत्येक अङ्ग की रचना बहुत सुन्दर तरीके से हुई है, वह कारीगरी ब्रह्मा से निर्मित कमलादि में दीखती है, किन्तु वह कारीगरी भी जितनी ब्रह्मा जानता है, उतनी ही है, किन्तु प्रभु के श्री विग्रह में उससे भी बहुत अधिक कारीगरी है, इससे वह रूप सर्वप्रकार से सुन्दर है। वह सौष्ठवं (सुन्दर रचना) पूर्ण है, इससे इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा के बनाये हुए पदार्थों से अतिरिक्त भी बहुत भगवदीय (भगवत्प्रकटित) पदार्थ हैं, यदि यों न होता तो भगवान् के मूल रूप में वैसी रचना का उत्तम प्रकार होता ही नहीं इतनी दूर तक सृष्टि के पदार्थों का उपयोग हुआ है, इसलिये अधिक वर्णन नहीं किया जाता है।

यह स्वरूप मूलरूप है यह समझाने के लिये इसका माहात्म्य कहते हैं 'मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्ग' इस वाक्य में (मह्यं) पद चतुर्थी में दिया है, किन्तु इसका अर्थ षष्ठि में करने का है। किन्तु (चतुर्थी) इसलिए कही है कि यह भगवत्स्वरूप अपने लिए (हम लोगों के लिए) फलरूप से प्रसिद्ध हैं।

राजस तामस और सात्विक आधिदैविक आदि भेद के कारण जो भिन्न हैं उन सबों के लिऐ यह रूप भजनीय है, भजनीय के स्थान पर (भजन्तं) कहके यह सूचित किया है, कि भजन सफल है निष्फल नहीं हैं, 'ये यथामां प्रपद्यते इस गीता के श्लोकानुसार भजन सफल है। 'भजनीयं' यह पाठ तो स्पष्ट है. भगवान् ने सब के लिए भजनीय स्वरूप का प्राकट्य कर सर्व को दर्शन दिए इससे अनिश्वर वादी (भगवान् नही हैं यों कहने वाले) परास्त कर दिये (हरादिये) यदि यों न होता तो जिन को महाफल प्राप्त हो गया है, उनके लिए भी भजनीय कैसे कहा जाय? ये मोक्षोपयोगि पदाथ नहीं हैं, तब अधिकार्यों को भजनीय कैसे हों? फिर सृष्टि प्रकरण में यह कहना विरुद्ध गिना जावे, ब्रह्मादि भी नित्य भगवद्भजन करते हैं, अन्य मत अपूर्ण व असत् है यों सिद्ध करने के लिए ही भगवान् प्रकट हुवे हैं इससे सनकादि भगवान् के दर्शन कर यह ही भजनीय स्वरूप है यों जानते हुए उनको नमन करने लगे, प्रकाशित भगवान् के सकलगुण उनकी दृष्टि में होने लगे जिस कारण से नमन किया, नमन करने से जो दोष हुआ उसका निवारण करते हैं। न वितृप्तदृशः' जिनके नेत्र तृप्त नही हुए थे, तब नमन क्यों किया? क्योंकि नमन दर्शन में प्रतिबन्ध डालने वाला है, बाहर दर्शन में उनको रस न होने से नमस्कार के भीतर प्रभु को पधरा के फल आनन्द पाया, नमस्कार तो

साधन है साधन से फल (दर्शन) उत्तम है उसको छोड़ नमन कैसे किया ? इस पर कहते हैं कि एक बार दर्शन से ही यों पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है जसे गंगा में घट निमग्न हो जावे, अतः प्रेम से ही प्रणाम किया, अथवा भगवदानन्द ने ही उनको नमन करा दिया जिससे पूर्णानन्द हो चरणों में गिर पड़े उनकी दृष्टि तृप्त न हुई जिसका इससे तुच्छत्त्व निराकरण किया है, 'कैः' शिरोभिः' मस्तक से नमस्कार करना ब्रह्मविदों का ब्रह्मत्त्व सूचन करता है ॥४२॥

आभास—एवं कृते भगवद्धर्माः प्रविशन्तीति ज्ञापनार्थं तेषु भगवद्धर्माः प्रविष्टा इत्याह—

आभासार्थ—यों करने से भगवान् के गुण हृदय में प्रविष्ट होते हैं इसको जताने के लिए उनमें भगवद्धर्म प्रविष्ट हुवे-निम्न श्लोक में प्रकट करते हैं—

श्लोक-तस्याऽरविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गत स्वविवरेण चकार तेषां सक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ।।४३।।

श्लोकार्थ—यद्यपि सनकादि मुनि अक्षरोपासक होने से ब्रह्मानन्द में निमग्न थे तो भी भगवान् कमल नयन के पदारविन्द की केसर सहित तुलसी गन्ध के रसवाली वायु ने नासिका रन्ध्रों के द्वारा उनके अन्तःकरण में जब प्रवेश किया तब उनके चित्त और देह में खलबली मचा दी जिससे वे अपने को संभाल न सके ।।४३।।

सुबोधनी—**तस्याऽरविन्दनयनस्येति** । तेषां चित्ततन्वोः भगवच्चरणसंबन्धिवायुः संक्षोभं कृतवान्, तच्चाऽयुक्तम्, यतस्ते अक्षरोपासकाः । आत्मरूपब्रह्मोपासकास्ते देहेन्द्रियान्तःकरणधर्माध्यासरहिताः । अतस्तेषां न क्कापि क्षोभः भक्तिरसस्तु नास्त्येव । तथापि भगवत्सान्निध्यात् भगवदीया धर्मा यथा महादोषं दूरीकुर्वन्ति तथाऽतिशयमप्यादधते । तत्र तेष्वतिशयाधाने संस्कारा उच्यन्ते-**तस्यारविन्दनयनस्येति** । स हि प्रसिद्धः सर्वानेव स्वापेक्षितान् भक्तान् करोति, तथैतेऽपि भगवदपेक्षिताः । अनेनेच्छयैव ते भक्ताः कृता इति ज्ञापितम् । किञ्च, **अरविन्दनयनस्येति** । कमलनयनस्य दृष्ट्यैव ते संस्कृता इति । अरविंद्यतीति रविव्यतिरक्तं खण्डयतीत्युपजीव्यातिरिक्तं धर्मं तेषामपि दूरीकरोतीति तेषां विरुद्धधर्मान् निवर्तयति । नयनं हि प्रापकम्, प्रापणरूपत्वात् । अतो दृष्ट्या बाधका धर्मा दूरी कृताः, प्रयोजकाश्च स्थापिता इत्युक्तम् । किञ्च, पदारविन्देति पादयोः स्पर्शस्तेषु वृत्तः । पद्यते ज्ञायते इति पदं ज्ञानात्मकम्, तत्स्पर्शे तेषां विशेषज्ञानमपि[2] गतम्, वयमात्मविद एवेत्याग्रहो निवृत्त इत्यर्थः । तदप्यरविन्दं स्वप्रकाशातिरिक्तमात्मनि दूरीकरोतीति ज्ञानधर्मो निरूपितः । तस्य किञ्जल्काः केसराः, खण्डशो दोषनिवर्तकाः, तैरौ-

षधैरिव मिश्रो यो भक्तिनिष्ठभक्तत्वापादकशरीरजनकरजोमिश्रो वायुर्घ्राणमार्गेणाऽन्तः प्रविष्टः (स) स्थूलशरीरनिरपेक्षमेव मध्ये शरीरमुत्पादयति । तदा चित्तदेहयोः पूर्वयोरंशतो ग्रहणत्यागकरणात्संक्षोभो युक्त एव । गन्धस्य हि द्वारं नासिका, अतस्तत्र गन्धस्य प्रतिबन्धो न जातः । अयं च गन्ध आधिदैविक इति स्वशब्दप्रयोगः, तेषां सर्वेषामेव साधनस्य तुल्यत्वात् । अत एव चतुःसनोऽपि प्रह्लादो भक्तो जातः । जयविजयगता भक्तिश्चतुर्षु स्थातेषां ताभ्यां दत्तमिति ।४३।

व्याख्या—मुनियों के चित और शरीर में, भगवच्चरणाविन्द सम्बन्धी वायु ने खलबली मचा दी यह तो अनुचित है, क्योंकि वे अक्षर ब्रह्म के उपासक हैं, आत्मरूप ब्रह्म के उपासक होने से वे देह, इन्द्रियाँ अन्तःकरण के धर्माध्यास से रहित हैं, अतः उनको कहीं कभा भी क्षोभ नहीं होता है, भक्तिरस तो इनको प्राप्त नहीं हुआ है, तो भी भगवत्सान्निध्य से भगवदीय धर्म जैसे महान् दोष को दूर करते हैं तथा उत्तम गुणों को भी ग्रहण कराते हैं, उस समय उत्तम गुण प्राप्त कराने वाले संस्कार उनमें आये यों 'तस्यारविन्द नयनस्य' वाक्य से कहते हैं वे प्रसिद्ध कमल नेत्र भगवान्, जिनको अपना करना चाहते हैं उन सबको भक्त बना देते हैं, वैसे इन मुनियों को भी भगवान् को अपेक्षा थी, इससे भगवान् ने अपनी इच्छा से इनको भक्त बनाया है, भगवान् कमल नयन की दृष्टि से ही ये संस्कृत (संस्कार करने वाले शुद्ध) हो गये। 'अरविंद्यति इति अरविंदः' सूर्य बिना नाश हो वह अरविन्द जिनके (ज्ञानरूप प्रकाश) ऊपर उनका आधार था उसके सिवाय जो विरुद्ध धर्म उनमें थे उनको भी निवृत्त कर दिया, कारण कि नेत्र पहुँचाने वाले धर्म को करते हैं, अतः दृष्टि से बाधक धर्म दूर कर दिये और जो काम के (भक्ति प्रद) गुण थे वे स्थापित किए इनको भगवान् के ज्ञान रूप पाद का स्पर्श हुआ था जिससे इनको जो ज्ञानीपन का हम आत्म वित् है ऐसा जो आग्रह रूप व अभिमान रूप दोष था, वह निवृत्त हो गया था वह चरण भी अरविन्द है इससे आत्मा के प्रकाश के सिवाय अन्य गुण को दूर कर देता है। इससे ज्ञान धर्म का निरूपण किया, उन चरणारविन्दों की केसर धीरे-धीरे दोषों को निवृत्त करने वाली होने से औषधरूप है। उनसे युक्त भक्तिनिष्ठ भक्तपन को प्राप्त कराने वाले शरीर को उत्पन्न कर्ता रज से मिश्रित वायु, नासिका मार्ग से भीतर अन्तःकरण से प्रविष्ट हो के स्थूल शरीर की अपेक्षा (परवाह) न कर मध्य में अन्य शरीर उत्पन्न करता है तब पहले के चित्त और देह के कुछ अंशों का ग्रहण एवं त्याग होने से खलबली होना उचित ही है, गन्ध जाने आने का द्वार नासिका है इससे वहाँ से गन्ध को जाने में कोई रोकता नहीं है। फिर यह गन्ध तो आधिदैविक है इसलिये 'स्व' शब्द देकर यह सूचित किया है कि उन मुनियों को सब साधन समान है, अत; इस गन्ध आने का छिद्र भी स्वतन्त्र हो सकता है। इसलिए ही चतुःसन होते हुए भी प्रह्लाद भक्त हुआ है, जय विजय में जो भक्ति थी वह प्रभुने इन चारों मुनियों में स्थापित कर दी और मुनियों का ज्ञान जय विजय को दिया। ॥ ४३ ॥

आभास—ततोभक्तवत्ते प्रणामं कृतवन्त इत्याह–

आभासार्थ—उन्होंने भक्त की तरह प्रणाम किया जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक–ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोशमुद्वीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम् ।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रिद्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्यु ॥४४॥

श्लोकार्थ—उन्होने भगवान् का अत्यन्त सुन्दर अधर कुन्दकली के समान हास्य वाला एव श्याम कमल कली सदृश्य मुख को देखकर तथा आशिर्वाद पाकर फिर पद्मरागमणि के समान लाल नखों से सुशोभित प्रभु के चरण कमल देख उन का ध्यान करने लगे ॥४४॥

सुबोधिनी—ते वा इति। ते चत्वारोऽपि वै निश्चयेन भक्त्या व्याकुलिताः भगवदीयमंघ्रिद्वन्द्वं निदध्युः। भक्तिर्हि भगवत्संबन्ध सर्वतः प्रापयितुं सकृदेव सर्वं देहेन्द्रियादि क्षोभयति। तत्र ज्ञानादिना न निर्वृतिः, अन्योन्यविरोधान्न समाधानम्, अतः केवलं सर्वसमाधानकर्तृ भगवच्चरणारविन्दद्वन्द्वं निदध्युः। ध्यानात्पूर्वं तेषामनिर्वृतौ हेतुमाह-**अमुष्येति**। स्वस्य भक्तत्वमुत्पादितवतो वदनमेवाऽसितपद्मकोशो नीलकमलमुकुलम्, उद्वीक्ष्य, लब्धाशिषो भूत्वा, अनुरागदृष्टिं प्राप्य, पुनरवेक्ष्य; बहुधा नमस्काराः, बहुधा च मुखदर्शनम्, माहात्म्यज्ञानम्, स्वरूपसौन्दर्यं चाऽन्तःकरणं दृष्टिं च वशीचकार। जीवस्तु तदुभयानुरोधी पर्यायेण तयोः समाधानं कृतवांस्तथापि तद्द्वयं न समाहितम्, उभयोरेकधासमाधानाभावादेकोपद्रवःसिद्ध एवं। असितपद्मकोशमित्यभूतोपमा। देशान्तरे तादृशकमलसम्भवः। ऊर्ध्वबीक्षणे नयनस्य हेतुत्वार्थं तथोक्तम्। तद्धि न सर्वकृष्णम्। रूपतो ज्ञानतश्चाऽस्य तथात्वं भविष्यतीति ख्यापनार्थं पद्मपदप्रयोगः। सजातीया जातीयपोषका इति, कोशपदेन तद्गतानां रक्षा सूचिता। उर्ध्ववीक्षणेन चरणयोः पतिता एव ते मुखारविन्दं पश्यन्तीत्युक्तम्। सुन्दरतर यत् कुन्दपुष्पम्, तद्वद्धासो यस्य। इयमेव ह्याशीः। सुन्दरतरत्वेन पूर्वावस्थानिवारकमायाप्रवृत्तावपि पूर्वावस्थाकृतसुखनिवृत्त्यभाव उक्तः। तरप्प्रत्ययेन चाधिक्यमुक्तम्, ब्रह्मानन्दाद्भजनानन्दस्य महत्त्वात्। सुन्दरतरमधरं वा। तदा तत्र परमानन्दादधिकरसो लोभात्मकः स्थापित इति तद्रसस्पर्शी हासो गोपिकानामिव सुखदः। तस्य सुन्दरतरत्वमानन्दमूर्तेरक्षरानन्दाद्भजनानन्दाच्च महानानन्द इति ज्ञापयति, अन्यथा केवलमोहोऽनिष्टहेतुः स्यात्। कुन्दपुष्पसाम्यता भौतिकरागव्यावृत्त्यर्था। मोहोऽपि भक्त्यर्थमेव न विषयार्थः। कुं पृथ्वीं द्यति खण्डयतीति कुन्दम्। एतादृशं प्रसादं प्राप्य पुनरवेक्षणं स्वहृदये भगवच्चरणारविन्दाविर्भावार्थम्। अत एव तदीयमंघ्रिद्वयमाविर्भावात् चित्ते निगृह्यत इति **निदध्युः**। द्वन्द्वपदमवताराभिप्रायम्। साकारब्रह्मवादे नाऽन्यथासिद्धिः स्यात्। तस्य चरणस्य भक्तिमार्गसिद्धस्य सर्वपुरुषार्थदातृत्वज्ञापनार्थम्-**नखा** एव ये **अरुणमणयः**, तेषामाश्रयणं यत्र। ते हि चिन्तामणिरूपा अरुणवर्णाः, अनुरागपूर्वकत्वात्। अनेन तेषां सर्वोऽपि मनोरथः पूर्ण इति सूचितम् ॥४४॥

व्याख्या—निश्चय भक्त्यतिरेक से व्याकुल उन चारों ने भगवान् के दोनों चरण कमलों पर ध्यान धरा. भक्ति ही चारों तरफ भगवान् से सम्बन्ध जोडने के लिए एक साथ ही सकल देह इन्द्रियादि में खलबली उत्पन्न करती है। उस समय ज्ञान आदि से वह खलबली नहीं मिट सकती है जिससे शान्ति (सुख) प्राप्त होवे, क्योंकि ज्ञान तथा भक्ति का परस्पर विरोध होने से समाधान नहीं

हो सकता है। इसलिए केवल सर्व प्रकार समाधान करने वाले भगवच्चरणारविन्द हैं, यों समझ उनका ही ध्यान धरने लगे। ध्यान से पूर्व उनको शान्ति न होने का कारण प्रभु के मुखारविन्द का दर्शन है, कुमारों को भक्त बनाने वाले भगवान् का श्याम कमल की कली के समान रूप का दर्शन कर, आशिष प्राप्तकर, अनुराग युक्त दृष्टि पाकर, फिर कई बार देखकर बार २ नमन किया और पुनः पुनः मुख के दर्शन किये यों करने से उत्पन्न माहात्म्य ज्ञान ने तथा स्वरूप सौन्दर्य अनुभव ने मुनियों के अन्तःकरण तथा दृष्टि को अपने वश कर लिया, जीव तो उन दोनों का क्रमशः अनुसरण करते ही समाधान करना चाहता था तो भी समाधान न होने से शान्ति न होती थी, यदि एक का किसी प्रकार समाधान होता तो दूसरे से उपद्रव उत्पन्न हो जाता, एक प्रकार से दोनों का समाधान नहीं हो सकता। 'असितपद्मकोश मत्यिभूतोपमा' श्याम कमल की कली यह अभूत उपमा है, क्योंकि श्याम कमल इस देश में उत्पन्न नही होते हैं। अन्य देशों में उत्पन्न होते हैं, ऊंचा होकर देखने में नेत्र कारण रूप हैं इसलिए वैसा कहा है, वह सर्व श्याम नहीं था, रूप से और ज्ञान से उसका वैसापन होगा इसकी प्रसिद्धि के लिए 'पद्म' पद का प्रयोग किया हुआ है अपनी जाति वाले जातिवालों के पोषक होते हैं इससे 'कोश' पद से उसमें रहे हुए पदार्थों की रक्षा की सूचना दी है, 'ऊंचा' ही देखने से इस शब्द द्वारा यह बताया है कि चरणों में पड़े हुए मुखारबिन्द का दर्शन करते रहेते थे। अत्यन्त सुन्दर कुन्द पुष्प के समान हास्य वाले मुख को देखते थे। यह हास्य ही आशिष है। अति सुन्दर पद से कहा है कि पूर्व अवस्था का निवारण करने वाली माया प्रवृत्त होती है तो भी पूर्व अवस्था में प्राप्त सुख की निबृत्ति नहीं होती है 'तरप्' प्रत्यय देने से यह सिद्ध किया है कि अधर में विशेष आनन्द व सुन्दरता है। अर्थात् ब्रह्मानन्द से भजनानन्द का महत्व होने से तब वहां (उसमें) परमानन्द से अधिक रस लोभात्मक स्थापित किया है। इसलिए उस रस को स्पर्श करने वालाहास, गोपिय की तरह सुख देने वाला है। उस आनन्दमूर्ति के सुन्दरतरत्व में अक्षरानन्द एव भजनानन्द से महान् आनन्द है यों जनाते हैं। अन्यथा केवल मोह अनिष्ट का कारण है, कुन्द पुष्प की समानता भौतिक, पदार्थों से राग की निबृत्ति के लिए है, मोह भी भक्ति के लिए है न कि विषय भोगार्थ है, 'कुन्द' का अर्थ है पृथ्वी को खण्डन करने वाला।

ऐसी कृपा सम्पादन कर फिर दर्शन करने का कारण भगवच्चरणारविन्दों को अपने हृदय में स्थापित करना है, अतएव भगवान् के दो चरण प्रकट हों तो हृदय में धरे जॉय इसलिए ध्यान करने लगे, 'द्वन्द्व' पद अवतार के अभिप्राय से कहा है, साकार ब्रह्मवाद में दूसरी तरह ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है, भगवान् के वे चरण भक्ति मार्ग के प्रसिद्ध सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करते हैं यों जताने के लिए कहते हैं कि चरणों के लाल नख मणिरूप अनुरागात्मक हैं अतः इनसे उनके (कुमारादि के) सर्व मनोरथ सिद्ध हुवे हैं ॥ ४४ ॥

आभास—एवं तेषां भक्तकृत्यमन्तरुक्त्वा स्तोत्रादिलक्षणं बाह्यमाहुः—

आभासार्थ—इस प्रकार से उनके भीतर का भक्तकृत्य कहकर इस श्लोक से बाह्य भक्तकृत्य स्तुति आदि कहते हैं—

श्लोक-पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गैर्ध्यानाऽस्पद बहु मतं नयनाभिरामम् ।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धैरौत्पत्तिकैः समगृणन्युतमष्टभोगैः ॥४५॥

श्लोकार्थ—इस जगत् में योग मार्ग द्वारा मोक्ष पद का खोज करने वाले पुरुषों के ध्यान का विषय अत्यन्त आदर योग्य नयनों के आनन्द की वृद्धि करने वाला पुरुष रूप जो गुणगान प्रकट करते हैं, उन हरि का गुणगान रूप स्वाभाविक अष्टसिद्धियों की स्तुति वे मुनिगण करने लगे ॥४५॥

सुबोधिनी– **पुंसामिति** । भगवति स्तुतिर्युक्तैव, न त्वसद्गुणारोपभूता । ननु ज्ञात्वा हि भगवद्गुणा वक्तव्याः, भक्तैरेव च ज्ञायन्ते गुणाः एते च पूर्वं न भक्ता इति कथं गुणज्ञानमित्याशङ्क्य, भक्तत्वाभावेऽपि पूर्वमेतेयोगिनः, तत्र योगसिद्ध्यादिक भगवता जातमिति, तेन मार्गेण तादृश माहात्म्यं ज्ञायत इति वक्तुं योगोपयोगित्वेन भगवन्तं विशिनष्टि पञ्चभिर्विशेषणैः । योगे प्रथमं ध्येयं रूपम्, अन्ते च योगसिद्धिप्रदम्, मध्येत्रीणि रूपाणि । निरन्तरध्यानेन तस्मिन्नादरः, तदा बहुमतं तद्भवति । ततो भगवत्साक्षात्कारः, तदा नयनाभिरामो भवति बहिर्दर्शनं दत्त्वा । अन्तरपि स्वदेहान्तर्हृदये प्रादेशमात्रं द्वितीयस्कन्धोक्तं पुरुषं पश्यति, तदा तदुक्तप्रकारेण फलं भवति । अवान्तरफलं चाऽणिमादिरूपं भवतीति तत्रैवोक्तम् । योगस्य बहुविधत्वात् तत्तत्फलदानार्थमिदमेव रूपं ध्यायत इति सर्वफलदातृत्वं तस्य ज्ञायत इति वक्तुम्, नानाविधगतिम्, मोक्षरूपां वा, **मृगयतां पुंसां** ध्यानास्पदमित्युक्तम् । पुरुषा एव योगिन इति **पुंसामि**त्युक्तम् । बहुकालंयोगं विधाय योगबलेन स वंशये जाते प्राणिनाँ का गतिरित्यपेक्षायां तन्निश्चयार्थमपि भगवान् ध्यायत इति **मृगयतामि**त्युक्तम् । पुरुषरूपमन्तर्यामिरूपमेव, साक्षात्फलसाधकत्वेन तस्यैवोक्तत्वात् । बहुभ्योऽणिमाद्यष्टैश्वर्यं प्रयच्छन्नपि स्वयं रिक्तो न भवतीति विज्ञापनार्थम**नन्यसिद्धै**रित्युक्तम् । भगवतोऽणिमादयो नाऽन्यत्र सिद्धाः, अतो दीयमाना अपि नाऽन्यत्र स्वतो गच्छन्ति, किन्त्वंशत एव । तत्र हेतु**रौत्पत्तिकै**रिति, न हि स्वाभाविका गच्छन्ति । **अष्टभोगा** अणिमादयः । मनसा सह षट् ज्ञानेन्द्रियसुखानि, गुह्यवा स्भोगौ वा अष्टभोगाः । **अष्टभागै**रित्यपि पाठे स एवार्थः । **सम्यग्गृणन्** नमग्रे स्पष्टीभविष्यति ॥ ४५ ॥

व्याख्या—मुनियों से की हुई यह स्तुति उचित एवं वास्तविक है कि असद्गुणों की आरोपित स्तुति है, पहले गुणों का ज्ञान प्राप्तकर पश्चात् उनका गान करना चाहिए, भगवान् के गुण तो भक्त ही जानते हैं । ये तो पहले भक्त नही थे तो इन से गुण ज्ञान कैसे हुआ ? इस शङ्का का समाधान करते हैं कि, 'भक्तत्वाभावेऽपि पूर्वमेते योगिनः' कि यद्यपि पहले ये भक्त नहीं थे किन्तु योगी तो थे । उस समय योग सिद्धि आदि भगवान् द्वारा सिद्ध हुवे, उस मार्ग से उसी प्रकार का भगवन्माहात्म्य जाना जाता है यों कहने के लिए योग में उपयोगी होने वाले भगवान् की पांच विशेषणों से पहचान कराते हैं या बखान (स्तुति) करते हैं योग में प्रथम **ध्यान** करने योग्य स्वरूप

का ज्ञान प्राप्त किया जाता है । अन्त में योग की सिद्धि देने वाले स्वरूप का, मध्य में तीन रूपों का, इसी तरह इन के निरन्तर ध्यान करने से उस स्वरूप में आदर होता है, तब वह स्वरूप विशेष आदरणीय बन जाता है. इसके बाद साक्षात्कार दर्शन होते हैं जिससे अर्थात् बाहर दर्शन होने से नयनों को अभिराम (महदानन्द) प्राप्त होता हैं, वह योगी भीतर भी द्वितीय स्कन्ध में वर्णन किया हुआ प्रादेश मात्र पुरुष के दर्शन करता है । तब उस में कहे हुए प्रकार से फल मिलता है आरिण सिद्धिरूप भी प्राप्त होता है यों वहाँ, ही कहा है । योग अनेक प्रकार के हैं, जैसे फल की इच्छा हो वैसा योग करना पड़ता है किन्तु कोई भी फल चाहिए तो इस एक ही रूप का ध्यान पर्याप्त (समर्थ) है, क्योंकि यह सर्व फलदाता स्वरूप है इसलिए 'नाना विधिगतिम् मोक्षरूपावा मृगयतां पुंसां ध्यान्यास्पदं' विशेषण दिये हैं l-पृथक् पृथक् प्रकार की गति अथवा मोक्षरूप गति को ढूंढने वालों के लिए ध्यान करने योग्य है, 'पुंसां' पद से यह सूचित किया है कि प्राय: पुरुष ही योगाभ्यास कर योगी हो सकते हैं । बहुत समय योगाभ्यास करने के बाद योगबल से सर्व हो जाने पर भी प्राणियों की क्यागति होती है ? ऐसी अपेक्षा होने पर उसके निश्चयार्थ कहते हैं, कि तदर्थ भी भगवान् का ध्यान करना उचित हैं । यों 'मृगयत,' पद देने का भावार्थं है अन्तर्यामी का स्वरूप ही पुरुष रूप होने वह ही साक्षात् फल को सिद्ध करने वाले हैं, अन्य से प्राप्त नहीं ऐसी सहज अणिमादि सिद्धियां से भगवान में हैं जिस कारण से बहुतों को सिद्धियां देते हुए भी आप खाली तो नही होते हैं किन्तु पूर्ण होने के कारण सहज पूर्ण ही रहते हैं अणिमादि अष्ट सिद्धियां हैं जिनमें से छ मन सहित ज्ञानेन्द्रियों कों सुखद हैं और दो गुह्येन्द्रिय और वाणी को सुखदायी है । 'अष्टभागै: पाठ से भी यही अर्थं होता है सम्यक् प्रकार से स्तुति आगे स्पष्ट होगी ।। ४५ ।।

आभास—स्तोत्रमाहु: पञ्चभि:

आभासार्थ—निम्न पांच श्लोकों से कुमार स्तुति करते हैं—

कुमारा ऊचु:

श्लोक–योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त ! राद्ध ।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो न: पित्राऽनुवर्णितरहा भवतुद्भवेन ।।४६।।

श्लोकार्थ–कुमारों ने कहा कि हे अनन्त! यद्यपि आप सकल जीवों के हृदय में अन्तर्यामी स्वरूप से बिराजते हैं । वह जीव चाहे दुरात्मा भी हो किन्तु दुष्टों को दृष्टि से छिपेहुए रहते हों आपसे उत्पन्न हमारे पिताश्री ने जब आपका रहस्य हम को सुनाया तब आप कर्ण रन्ध्र द्वारा हमारे हृदय में पधारे थे । अत: आज ही हमारे यहां पधारे हो यों नही हैं किन्तु नेत्रों से प्रत्यक्ष दर्शन कराने की कृपा तो आज ही की है ।।४६।।

कारिका—**योगे लोके तथा भक्तौ भवान् विख्यातमङ्गलः ।**
सर्वात्मना वयं दासा लब्ध तत्र च यत्फलम् । १ ।

कारिकार्थ– योग में, लोक (बैकुण्ठ) में तथा भक्ति में आप मङ्गल रूप हैं यों प्रसिद्ध है। हम आपके सम्पूर्ण प्रकार से दास हैं, दासत्व से जिसफल की प्राप्ति होतो है वह हम को प्राप्त है ।।१।।

कारिका—**एतावतैव तैः स्तोत्रं कृतं भक्त्याऽतिविह्वलैः**
अपराधस्य करणान्नाऽधिकं स्फुरितं हृदि ।।२।।

कारिकार्थ—भक्ति से बहुत विह्वल हुए कुमारों ने इतनी हो स्तुति की, क्यों कि अपराध करने से उनके हृदय में भगद्गुणों की विशेष स्फूर्ति नहीं हुई । ।।२।।

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं भगवन्तं ब्रह्मत्वेन स्तुवन्तः शास्त्रार्थपरत्वं स्तुतिपरत्वं वा मा भवत्विति पूर्वदर्शनेन यो दृष्टः स एवाऽयमिति प्रत्यभिज्ञां वदन्तस्तस्याऽन्तर्यामित्वं समर्थयन्ति—**योऽन्तर्हित इति । यस्त्वं दुरात्मनां हृदि गतोऽप्यन्तर्हितः, सोऽद्यैव** नोऽस्माकं नयनमूलं **नो राद्धो** न सिद्धः; किन्तु **यद्यैव कर्णविवरेण** हृदयं **गतः**, तदैव परावृत्तचक्षुषा दृष्ट इति नयनमूल तदैव राद्धः । ब्रह्म प्रकारद्वयेन निश्चीयते, शास्त्रतोऽनुभवतश्च । तत्र शास्त्रं दुष्टानां ब्रह्मसाक्षात्कारो न भवतीत्याह, न तु सतां साक्षात्कारो भवतीति, तथा सत्यनुवादकत्व स्यात् । अत उपनिषदामात्मब्रह्मवाक्यरूपाणामनधिकार्यसाक्षात्कारविषयप्रतिपादकत्वम् । तदेव प्रथममत्राप्याह—**यस्त्वं दुरात्मनां हृद्गतोऽप्यन्तर्हित** इति । स त्वमेव । अनेन शास्त्रप्रतिपाद्यो भगवानेवेति निरूपितम् । स एव हृदये प्रकाशत इत्यनुभवमाह—-**सोऽद्यैवेति** । बहिरिन्द्रियविषयत्वेनात्मत्वं स्यादितीदमप्यस्माकं चक्षुरात्मदर्शनाभ्यासवतामावृत्तमेवेति न बहिर्दर्शनमिति वक्तुं पूर्वदर्शनेन सह साजात्यं प्रतिपादयन्त आहुः–**अद्यैव नयनमूलं राद्ध इति** । एतद्दर्शनस्याऽप्रथमदर्शनत्वादनादर एव, प्रथमदर्शनस्यैव अनधिगतार्थज्ञानत्वेनाऽऽदरविषयत्वात् । भक्तिमार्गानुसारेणाऽप्यन्तर्भगवत्साक्षात्कारो जात इति वक्तुम्–**कर्णविवरेण गुहां गत** इत्युक्तम्, अन्यथा अन्तरेयव तस्याऽऽविर्भाव उक्तः स्यात् । **'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण'** इति तु भगवच्छास्त्रम् । पूर्वमपि वयं भवदीया एव, अन्यथाऽस्मत्पिता ब्रह्मा भवद्रहस्यमस्मासु न वदेत् । न च ब्रह्मा शास्त्राधिकारं न जानातीति वक्तव्यम् यतस्तव साक्षादौरसः पुत्रः । अतः **'स्वानां भावसरोरुहम्'** इति न विरोधः ।।४६।।

व्याख्या—इनमें से पहले भगवान् की ब्रह्मत्व भाव से स्तुति करते हैं यह स्तुति शास्त्रों में कही हुई है वा केवल प्रशंसा मात्र हैं यों समझने मे न आवे तदर्थ कहते है कि जिस स्वरूप के पहले दर्शन हुए वह ही यह स्वरूप है ऐसी पहचान व पहले का अनुभव करते हुए उनके अन्तर्यामित्व का समर्थन करते हैं । आप दुष्टों के हृदयों में विराजते हुए भी इनको दर्शन नहीं देते हैं। वे आप आज ही हमारे सामने नहीं पधारे थे किन्तु आप से उत्पन्न हमारे पिता के द्वारा वर्णित गुणों द्वारा कर्ण रंध्र में प्रविष्ट हो आगे भी हृदय में पधारे थे तब ही परावृत दृष्टि से आपके दशन किये थे इसलिए तब ही हमारे नेत्रों के मूल के पास पधारे थे । शास्त्र तथा अनुभव से निश्चय होता है कि यह स्वरूप ब्रह्म का ही है, शास्त्र यों कहता है कि यह स्वरूप दुरात्माओं को दृष्टि गोचर नहीं होता है किन्तु सत्पुरुषों को होता है यों भी नहीं कहता है । इसलिए श्रुति कहतो है कि शोक रहित को दर्शन होता है जो अधिकारी नहीं हो उस को दर्शन नहीं होता है । जिस पर भगवत्कृपा होती हैं अर्थात् भगवान स्वयं कृपा से जिसका वरण करते हैं उसका दर्शन होता है हृदय

में विराजते हूए भी दुष्टों को दर्शन न देने वाले भी आप ही अन्तर्यामी स्वरूप है शास्त्र में भगवान् नाम से आप ही कहे गये हैं वे ही आप हृदय में प्रकाशित हैं यह हम लोगों को अनुभव सिद्ध भी है अतः आज ही हमरे नयन के समीप पधारे हो यों नहीं है। यदि भगवान् बाहर की इन्द्रियों से दर्शन दें तो आत्मा नहीं कहे जायँगे इससे आत्म स्वरूप के दर्शन करने वाले हम लोगों के नेत्र भी पीछे लौटे हुए है इस लिए वस्तुतः यह बाहर का दर्शन नहीं है पूर्व (भीतर) किये हुए आत्मदर्शन के समान ही है यो सिद्ध करने के लिए ही कहा है कि आपने आज ही दर्शन दिये हैं यों नहीं है, केवल पहले बाहर दर्शन होता तो अनादर प्रतीत होता किन्तु यह दर्शन पहले भीतर किये हुए आत्मा के स्वरूप का ही कृपा से प्राप्त हुआ है, इससे अनादर नही है।

भक्ति मार्गानुसार भी भीतर भगवान् का साक्षात्कार हुआ है यों कहने के लिए हो 'कर्ण विवरेण गुहां गतः' वाक्य कहा है यो न होता तो भीतर हो उनका आविर्भाव कह देते, यों न कह कर कर्ण रन्ध्र से प्रविष्ट कहा यह भगवत् शास्त्र है पहले भी हम भगवदीय थे यदि भगवद्भक्त न होते तौ हमारे पिता ब्रह्मा हमको भगवद्रहस्य कहकर नहीं सुनाते, यों भी नही है कि ब्रह्मा शास्त्राधिकार को नहीं जानते थे। यों भी नहीं कह सकते हो क्योंकि वे आपके औरस पुत्र हैं अतः 'स्वानां भाव सरोरुहम्' अपने भक्तों के भावरूपी कमल इस वाक्य से विरोध नहीं है ॥४६॥

आभास—एवं भगवन्तं परब्रह्मत्वेन स्तुत्वा, आरोपेणैवं कथनमित्याशङ्कां व्यावर्तयन्ति—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् की पर ब्रह्मपन से स्तुति की यह अर्थात् अन्य के गुण इसमें आरोपण करके की गयी है, इस प्रकार की शङ्का का निवारण इस श्लोक में करते है।

श्लोक—तं त्वा विदाम भगवन्परमात्मतत्त्वं सत्त्वेन संप्रति रतिं रचयन्तमेषाम्।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगैरुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ॥४७॥

श्लोकार्थ—हे भगवान्! आप साक्षात् परमतत्त्व हैं यों हम जानते हैं इस समय अपने इन भक्तों को प्रेम (आनन्द) देने के लिये सत्त्वात्मक श्री विग्रह से प्रकट हुए हैं, अनेक प्रकार के तापों से दृढ हुए भक्ति योगों से जिनकी मायोत्पन्न अहंकारादि गांठें शिथिल हो गयी हैं ऐसे वैराग्य युक्त मुनियों के इस स्वरूप का हृदय में अनुभव कर रहे हैं ॥४७॥

सुबोधिनी—तं त्वा **विदामेति**। तमेव परब्रह्मरूपं त्वां विदामः। अन्यथा ज्ञात्वा अन्यथाकथनार्थमुत्प्रेक्षा भवतिः तथा प्रकृते नाऽस्ति, किन्तु त्वां **परमात्मतत्त्वमेव** जानीमः। एते हि साङ्ख्यानुसारिणः, एतेषां तत्त्वपदप्रयोगः सर्वत्र। तत्त्वं सहजं रूपम्। तत्र तत्त्वेष्वात्माऽप्येकं तत्त्वम्। तत्र तेषामप्यात्मनस्त्रैविध्यम्। अस्मदादिजीवा अंशप्रायाः, तेऽप्यात्मान इत्युच्यन्ते। यश्च

प्रकृत्यधिष्ठाता मुख्यः, सोऽप्युच्यते पञ्चविंशतितत्त्वेषु परः श्रेष्ठः। ततोऽप्युत्तमोऽसङ्गोदासीनः परमात्मा, स एव प्राप्य इति तं त्वां जानीम इत्यर्थः। ननु तस्य स्वप्रकाशत्वमात्मवृत्तिवेद्यत्वं वा सम्भवतिः न तु चक्षुर्विषयत्वमित्याशङ्क्य तन्मतानुसारेण परिदृश्यमानत्वं समर्थयन्ति–**सत्त्वेन संप्रति रतिं रचयन्तमेषामिति**। इदानीं वैकुण्ठे स्थितानामेषां भक्तानां प्रीत्युत्पादनार्थं शुद्धं सत्त्वं पुरुषरूपं कृत्वा तिष्ठसीत्यर्थः। असङ्गोदासीन एव स्वभक्तानुरोधेन तथा करोति, अन्यथा तस्य फलत्वं शास्त्रार्थत्वं च न स्यात्। किञ्च यदि भगवान् सत्त्वाविर्भावं न कुर्यात् तदा ज्ञानमपि न सिध्येदित्याह––**यत्तेऽनुतापविदितैरिति**। यदा जीवात्मा संचरन् बहुकालं बहून् क्लेशान् प्राप्नोति, तदा भगवतः कृपा उत्पद्यते, अयं स्वानन्दानुभवयोग्यः क्लेशं प्राप्नोतीति। स क्लेशो भगवतैव जात इति कृपानुतापरूपेण निरूप्यते, अन्यथा लौकिका योगप्रकारा लौकिकबुद्धिगम्या न भवन्तीति भगवत्कृपयैव तादृशयोगमार्गाणां परिज्ञानम्। त एव दृढा भवन्ति, भक्तिप्रधानाश्च। भक्तिमार्गसिद्धयोगा वा। भगवतः सत्त्वाविर्भाव एवैतद्भवति। किञ्च, **उद्ग्रन्थयोऽपि** कृपयैव भवन्ति,। अहङ्कारग्रन्थिः रजस्तमोभ्यां दृढो भवति, तद्भगवत्सत्त्वप्राकट्यं नैव शिथिलो भवतीति। किञ्च, मुनयोऽपि तेनैव भवन्ति, विरागाश्च। भक्तियोगैश्च वेदैनं न केवलैः, किन्तु भगवत्सत्त्वसहितैरेव। अतः सर्वोपकारित्वात्सत्त्वप्राकट्यमित्यर्थः॥ ४७॥

व्याख्या–– आप वह ही परब्रह्म रूप हैं यों हम जानते हैं, एक प्रकार से जानकर दूसरी तरह कहने के लिये उत्प्रेक्षा करनी पडती है। प्रकृत (चालू) प्रसङ्ग में यों नहीं है किन्तु आपको परमात्मतत्व ही हम जानते हैं, ये मुनि साङ्ख्य शास्त्र का अनुसरण[1] करने वाले हैं ये सर्वत्र 'तत्व' शब्द काम में लाते हैं 'तत्व' का तात्पर्य है स्वाभाविक रूप तत्वों में आत्मापन एक तत्व है यों इनके साङ्ख्य मत में माना जाता है, तथा वह आत्मा भी तीन प्रकार की है, हम लोग जो जीव कहलाते हैं वे भी आत्मा के अंश सम होने से (१) आत्मा कहलाते हैं (२) आत्मा वह है जो पच्चीस तत्वों में श्रेष्ठ प्रकृति का अधिष्ठाता है, उनमें भी उत्तम असङ्ग उदासीन परमात्मा है, वह ही प्राप्त करने योग्य है। इसलिये हम आपको वहां प्राप्य परमात्मा जानते हैं, वह परमात्म तत्व तो स्वतः प्रकाश रूप है तथा आत्म वृत्ति से जानने योग्य है, न कि वे नेत्रों का विषय हो सकते हैं? ऐसी शङ्का का निवारण उनके मतानुसार दृश्यमानत्वं सिद्ध करते हैं, 'सत्वेन सम्प्रति रति रचयन्तमेषां' अब वैकुण्ठ में स्थित इन भक्तों को आनन्द प्राप्त हो तदर्थं शुद्ध सत्व को आकार रूप कर आप पुरुष स्वरूप से दर्शन दे रहे हो, जो असङ्ग और उदासीन परमात्मा हैं वह ही यों पुरुष रूप धारण कर रहे हैं, यदि यों न करे तो उसका फलपन एवं शास्त्रार्थपन सिद्ध न होवे तथा स्वभक्त की इच्छा पूर्ण न होवे अतः भक्तानुरोध से यों करते हैं किञ्च यदि भगवान् अपना सत्व में वासत्व द्वारा प्राकट्य न करें तो ज्ञान की भी सिद्धि न हो सके इसलिये कहते हैं कि 'यत्तेऽनुतापविदितैरिति' जिस पंक्ति से बताते है कि जीव जन्म जन्मान्तर में चक्कर काटते हुए बहुत दुःखी होता है तब सतत दयालु को अपने अंश रूप आत्मा (जीव) पर दया आती है वे (परमात्मा) जानते हैं कि मेरी प्राप्ति के लिये ही इसने ये दुःख

---

[1] यों हंसगीता में सिद्ध किया गया है

भोगे है तब कृपया उन जीवों को योगमार्ग का ज्ञान कराते हैं वे मार्ग ही हढ तथा भक्ति में मुख्य हैं अथवा भक्ति मार्ग के प्रसिद्ध 'प्र' योग है, भगवान् का सत्व जब प्रकट होता है तब ही फल की प्राप्ति होती है। भगवान् की कृपा से ही माया की गांठ टूटती है कारण कि अहंकार की गांठ रजो गुण तथा तमोगुण से हढ होती है वह दृढ़ता सत्त्व के प्रकट होने से शिथिल होती है।

सत्त्व से ही मुनि तथा वैराग्य युक्त बन सकते है, केवल भक्ति योग से भगवान् का ज्ञान नहीं होता है, किन्तु सत्त्व सहित भक्ति योगों से ही भगवान् का ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिये सर्व के ऊपर उपकार करने वाला जो सत्त्व गुण है उसको भगवान् प्रकट करते हैं. यों अर्थ तात्पर्य) है।४७॥

आभासः—एव सन्मार्गानुसारेण सत्त्वरूपमेतदिति निरूप्य भक्तिमार्गानुसारेण तद्रूपं परमपुरुषार्थरूपमेवेत्याहुः —

आभासार्थ—इस तरह सन्तों के मार्गानुसार यह सत्त्वरूप है यों निरूपण कर निम्न श्लोक में कहते हैं कि भक्ति मार्गानुसार वह स्वरूप परम पुरुषार्थ रूप है

श्लोक—नाऽऽत्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं किन्त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।
येऽङ्ग! त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञा॥४८॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग! आपके चरणों की शरण जिन्होने ली हे, कीर्तन करने योग्य तथा तीर्थ रूप यश वाली आपकी कथा है (गुणगान) में कुशल हैं, और उसके रस को जानने वाले हैं वे आपके मोक्ष रूप प्रसाद का भी विशेष आदर नहीं करते हैं तो टेढी भौं से भय को प्राप्त होने वाले इन्द्रपदादि का अनादर करे तो उसमें कौनसी विशेषता है॥४८॥

सुबोधिनी— नाऽऽत्यन्तिकमिति। हे अङ्ग! **ये त्वदङ्घ्रिशरणास्ते आत्यन्तिकमपि न विगणयन्ति**। निवृत्तसजातीयस्य ससारस्य पुनस्तत्राऽऽमन्यनुत्पाद इति मोक्ष आत्यन्तिक उच्यते। सोऽपि स्वकृतसाधनसाध्यो न भवति, किन्तु भगवान् प्रसन्नः सिद्धवत्कारेण तं प्रयच्छति। तादृशं ते न गृह्णन्तीति दूरापास्तम्, यती विगणयन्त्यपि न। ननु भक्ता भगवत्प्रसादं कथ न गणयेयुः? तत्राऽऽह—**विगणयन्तीति**। गणयन्ति, परं यथा भक्ति विशेषाकारेण प्रसादत्वेन गणयन्ति, तथा आत्यन्तिकं न गणयन्तीत्यर्थः। अत्राऽगणना नाऽवगणना, किन्तु भगवत्प्रसादेषु गण्यमानेषु नान्तरीयकमिति तद्गणनाँ न कुर्वन्ति। यत्र मोक्षस्यैवैषा व्यवस्था, तत्र **किन्त्वन्यत्**। तुशब्दो विषयासक्तिपक्षं व्यावर्त्तयति, अत्यन्तविषयासक्ता मोक्षं न मन्यन्त इति। ननु भक्त्युपयोगिपदार्था भगवभगवत्सेवौयिकाः भक्तैरपेक्ष्यन्त एव कथं तेषामगणनेत्या शङ्क्याऽऽह**अन्यदिति**। अन्यद्भगवत्सेवानौपयिकम्। परम्परोपयोग्यपि न भवतीति विज्ञापनार्थं विशेषणान्तरमाह—**अर्पितभयमिति**। भयं मृत्युः। भगवदीयपदार्थानामिदमेव निदर्शनम् यद्भयजनकं न भवति, न वा नश्वरम्। तत्र हेतुः—**भ्रुव उन्नयैस्त इति**। ते भगवतो या भ्रूः स एव कालः, तस्योर्ध्वं नयनं सर्वप्रतीकारातिक्रमेण कार्यसाधनम्, न हि भगवान् स्वाभिप्रेतान विषयांस्तथा करोति। मोक्षस्याऽगणनायामुपपत्तिमाह—येऽङ्गेति अङ्गेतिसंबोधनं श्रवणादिभावे भगवत्तुल्यतया कोमलसंबोधनप्रतिपादकम्, तादृशभक्तेरङ्गभावाद्वा। अनेनाऽपि मोक्षस्याऽगणना निरूपिता, मोक्षदाता भगवानेव यस्यामङ्गमिति।

तेषां सर्वमेव सामग्री मोक्षादप्यधिकामाह। तत्र तेषामादौ गृहं निरूप्यते--**त्वदङ्घ्रिशरणा इति**। तवाङ्घ्रिद्वयमेव तेषां शरणम्, रजकं वा। एकत्राऽऽधारत्वम्, अपरत्र नियोज्यत्वम्। यच्चरणप्रसादलेशरूपाः सर्वे मोक्षादयः। भगवद्भक्तिः स्वतन्त्रा सप्तविधा, उत्तरोत्तराधिका च। तत्र प्रथमकक्षायामेव स्थिता न गणयन्ति, किमुत चरमकक्षायां स्थिता इति सूचयितुमाह-**भवतः कथाया इति**। ये कथाया रसज्ञाः। भगवदीयो रस उभयत्र प्रतिष्ठितः, रूपलीलायां नामलीलायां च। तत्र रूपलीलायामासक्ता भगवदनुरोधमपि कुर्वन्ति, अन्यथा सेवायाः कर्तुमशक्यत्वात्। अतोऽत्र कथारस एव निरूप्यते। कथारसोऽनुभवेनैव ज्ञायत इति **रसज्ञा** इत्युक्तम्। यथा कामादिषु हृदये विद्यमानेष्वेव सत्सु कामिन्यादिनामरूपरसा अनुभूयन्ते, नापि रसास्वादनव्यतिरेकेण किञ्चिदन्यत्तादृश प्रमाणमस्ति, न वा अधिकारिणि कामाद्यभावे स रसः स्फुरति, रसानामधिकारिण प्रत्येव स्फुरणनियमात्। अतो रसज्ञा एव निरूपिताः। स चाऽधिकारः शास्त्रानुभवाभ्यां प्रेमज्ञानाभ्यामेव भवति। रसान्तराविष्टचित्तानामत्र रसो नोत्पत्स्यत इति तद्व्यावृत्त्यर्थं भगवतो विशेषणमाह-**कीर्तन्यार्थयशस इति**। कथा हि यशः प्रतिपादिका। यशो हि, सर्वेषां भगवतश्च श्रवणे रसजनकं भवति। स्वाभाविकोऽन्यो रसः प्रथमरसासक्तिं वारयतीत्यनुभवसिद्धम्। विशेषाकारेणाऽपि पूर्वरसनिवर्त्तकमिति विशेषणद्वयम्, कीर्तन्यं तीर्थरूपमिति। कीर्तनीयं तदेव भवति, कीर्तयितुर्येन रसो जनितो भवेत्, शास्त्रतो वाऽनुभवतो वा। अनुभवतो रसजनकावर्थकामौ, शास्त्रतो धर्ममोक्षौ। यत् सर्वानुगुणं तत् कीर्तनीयम्, तल्लोके नाऽस्तीति रसचतुष्टयप्रतिपादकं भगवद्यश एवेति **कीर्तन्यपदेनोक्तम्**। तीर्थं हि द्विविधम्; गुरुरूपं जलरूपं च; बाह्याभ्यन्तरोपकारजननभेदेन निरूपितम्। सर्वपुरुषार्थाभीप्सुस्तदुभयं सेवते विशेषसाधनासमर्थः। स्थितिनिर्वाहके च ते अतो मरणान्तं तत्र स्थितौ सुखेनैव पुरुषार्थो भवतीति। यत्र काऽपि पुरुषार्थे आसक्तो भगवद्यश एव शृणुयात् तीर्थरूपत्वादित्यर्थः। अत्र च स्वाभाविकमर्माकारसूचकं विशेषणमाह—**कुशला इति** नैपुण्यं बुद्धितीक्ष्णता चाऽपेक्ष्यत इत्यर्थः॥४८॥

व्याख्या— हे प्रिय! जो आपके चरणों की शरण में पड़े हैं वे मोक्ष की भी परवाह नहीं करते हैं, जो सजातीय संसार से निवृत्त हो गया है वह फिर उस आत्मा में उत्पन्न नहीं होता है जिस मोक्ष को आत्यंतिक कहते हैं वह भी अपने किए हुए साधनों से सिद्ध नहीं होता है। किन्तु भगवान् प्रसन्न होकर (बनकर) सिद्ध हुई सामग्री की तरह जब प्रसाद रूप से देते हैं तब ऐसे भक्त उसको लेते नहीं यह तो दूर की बात है किन्तु (उसका) आदर भी नहीं करते हैं, यह क्या कह रहे हो ? भक्त,भगवान् प्रसाद का आदर कैसे न करेंगे। इस पर कहते हैं 'विगणयन्ती न' आदर नहीं करते हैं यों तात्पर्य नहीं है आदर तो करते हैं किन्तु भक्ति को विशेष प्रकार से आदर योग्य समझते हैं। ऐसा आदर मोक्ष का नहीं करते हैं, यहां आदर न करने का तात्पर्य तिरस्कार करना नहीं है, किन्तु जब प्रभु के प्रसादों की गणना की जाती है, तब मोक्ष आवश्यक प्रसाद रूप है यों आग्रह पूर्वक आदर (गणना) नहीं करते हैं, जहां मोक्ष की यह व्यवस्था है वहां अन्यों की क्या गणना होगी, 'तु' पद विषयों की गणना को नहीं करने के लिये है, क्योंकि विषयासक्त मोक्ष को नहीं चाहते हैं अतः वे उसका आदर नहीं करते हैं।

भक्तों को तो भगवत्सेवा में उपयोगी पदार्थों की आवश्यकता है उनकी उपेक्षा कैसे करेंगे ? जिस का उत्तर देते हैं कि 'अन्यत्' जो सेवा में उपयोगी नहीं है वह चाहे मोक्ष भी होवे तो उपेक्ष्य है, जो परम्परा से भी सेवोपयोगी नहीं वे भी उपेक्ष्य हैं यह बताने के लिये दूसरा विशेषण कहते हैं 'अर्पित-भयं' भय का अर्थ मृत्यु है, भगवदीय पदार्थों की यही पहचान व दृष्टान्त है कि जो न भय-

जनक (मृत्यु करने वाला) है और न नाशवन्त है जिसमें कारण देते हैं 'भ्रुवउन्नयैस्तै' भगवान् की भौंह वह हो काल रूप है उसको टेढी करने से सकल विरोधों का उल्लंघन होकर कार्य सिद्ध होता है अर्थात् उनका नाश हो जाता है किन्तु भगवान् अपनी सेवा में अपेक्षित (आवश्यक) विषयों को ऐसा (नाश) नहीं करते है।

मोक्ष को गणना (दरकार) नहीं करते हैं जिसकी उपपत्ति (हेतु पूर्वक युक्ति) बताते है, 'येऽङ्ग' हे प्रिय ! यह कोमल संबोधन इस प्राशय से दिया है कि जब भक्त भगवान् के गुण श्रवण करते हैं व गाते हैं तब भगवत्समान हो जाते हैं क्योंकि उस समय भगवान् उनमें विराजते हैं अथवा भगवान् श्रवण स्मरण भक्ति का अङ्ग बन जाते हैं, इससे भी मोक्ष का आदर (गणना) न करना कहा है, कारण कि जहां मोक्ष देने वाला अंङ्गी भगवान् भी जिस भक्ति में अङ्ग बन जाता है, वहां मोक्ष क्या है ? भक्तों के लिये सेवोपयोगी सर्व सामग्री मोक्ष से ही अधिक हैं। उसमें पहले उनके गृह का निरूपण किया जाता है, 'त्वदङ्घ्रिशरणाः' आपके दोनों चरण ही उनके रक्षक एवं गृहरूप है, मोक्ष आदि तो आपके चरणों के लेशरूप (स्वल्पभाग) है वे चरण एक तरह आधार (गृहवत्) होते हैं दूसरी तरफ सेवक (रक्षा करने वाले) होते हैं, अर्थात् भगवच्चरण भक्त के लिये आश्रय तथा रक्षक दोनों ही हैं।

भगवान् की भक्ति स्वतन्त्र है एवं सात तरह की है, एक प्रकार से दूसरा प्रकार अधिक है, इसमें जो भगवद्भक्त पहली कक्षा में हैं वे ही मोक्ष की परवाह नहीं करते हैं, तो अन्तिम कक्षा में स्थित न करें तो कौनसा आश्चर्य है। चरम कक्षा वालों को कहते हैं, 'भवतः कथायाः रसज्ञाः जो आपकी कथा के रस को जानने वाले हैं, भगवान् का रस दोनों में (रूप लीला में तथा नाम लीला में) धरा हुआ है, उनमें से जो रूपलीला में आसक्त हैं, वे भगवान् के सदैव अनुकूल करते हैं, यों न रहे तो सेवा बन नहीं सके, अतः यहां कथा रस का वर्णन किया जाता है कथा का रस अनुभव से ही जाना जाता है, इसलिये रसज्ञा' पद दिया है अर्थात् इसको जानने वाले। जैसे कामादि हृदय में मौजूद होने पर ही कामिनी (स्त्री) आदिके नाम रूप और रस का अनुभव कर सकता है, इस में रस के अनुभव करने के सिवाय दूसरा कोई प्रमाण नहीं है, यदि पुरुष में कामादि का अभाव हो तो इसको रस की स्फुर्ति नहीं होती है, क्यों कि रस की स्फुर्ति अधिकारी (रसज्ञ) में ही होती है, इसलिये ही 'पुरुषः' न कहकर 'रसज्ञा' पद दिया है रसिकों के हृदय में ही बीज है अतः वह प्रफुल्लित होता है। वह अधिकार शास्त्र और अनुभव से तथा प्रेम एवं ज्ञान से ही होता है। अन्य (लौकिक विषय सम्बधी) रसों में जिनका चित्त आविष्ट है उनको यहां कथा में रस की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये ऐसे मनुष्यों का पृथक् करने के लिये ही भगवान् के यह विशेषण 'कीर्तन्य-तीर्थ यशसः' दिये हैं कीर्तन करने के योग्य और तीर्थ रूप यश वाला भगवान् की कथा-यश का प्रतिपादन करने वाला है, यश, सबका और भगवान् को सुनने पर रस पैदा करने वाला है, जो अन्य रस स्वाभाविक है व पहले की रसासक्ति को मिटाता है, यह अनुभव से सिद्ध है। विशेष स्वरूप के कारण भी पूर्व रस के निवर्तक हैं, इसलिये दो विशेषण दिये हैं '१-कीर्त्तन्यं, २-तीर्थरूपम्' १ कीर्तन करने योग्य २-तीर्थरूप। कीर्तन करने योग्य वह होता है जिससे कीर्तन करने वाले के हृदय में रस उत्पन्न हो, शास्त्र से अथवा अनुभव से। अनुभव से रस पैदा करने वाले अर्थ और काम दो पुरुषार्थ हैं और शास्त्र से धर्म तथा मोक्ष रस जनक हैं, जो सबको रुचि उत्पन्न करने वाला लोक में कोई नहीं है, इसलिये चारों प्रकार के पुरुषार्थ में रस उत्पन्न करने वाला भगवान् का यश ही है। इसलिये वह (भगवद्-यश) ही कीर्तन करने योग्य है अर्थात्

उसका ही कीर्त्तन करना चाहिये। तीर्थ दो तरह के हैं एक गुरु तीर्थ है दुसरा जल रूप गङ्गा यमुनादि तीर्थ हैं ये बाहर एवं भीतर दोनों का उपकार करने वाले हैं, जो विशेष साधन करने में असमर्थ हैं और सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करना चाहता है उसको इन दोनों का सेवन (आश्रय) करना चाहिये, वे दोनों स्थिति के निर्वाहक हैं अतः मरण तक वहां रहने पर सुख पूर्वक पुरुषार्थ सिद्ध होता है, कहीं भी हो पुरुषार्थ में आसक्ति वालों को भगवद् यश ही सुनना चाहिये, क्यों कि वह तीर्थ रूप है, यहां स्वभाव से जो अधिकारी है उसका सूचक विशेषण कहते हैं कुशलाः निपुणता अर्थात् बुद्धि की तीक्ष्णता, इसकी अपेक्षा है, अर्थात् जिसको बुद्धि सारासार, सत्यासत्य जानने वाली है वह स्वाभाविक अधिकारी है ॥४८॥

आभास—एवं भक्तिमार्गानुसारेण भगवन्त स्तुत्वा स्वस्याऽपराधाभावाय स्वदोषं कीर्तयन्ति शपथ प्रकारेण—

आभासार्थ—यों भक्ति मार्गानुसार भगवत्स्तुत्ति कर हम निरपराधी होवे तदर्थ के साथ अपने दोषों का निम्न श्लोक में स्वीकार करते हैं।

श्लोक—**काम भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ताच्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।**
वाचस्तु नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्र ॥४९॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! यदि हमारा चित्त भ्रमर की तरह आपके चरण कमलो में रमण करता रहे, एवं हम लोगों की वाणी तुलसी के समान आपके चरण कमलों के सम्बन्ध से सुशोभित होती रहे तथा हमारे कर्ण आपके गुणगणों से पूरित होते रहें तो अपने पापों के फल स्वरूप भले नरकादि लोक प्राप्त होवे उसकी हमें चिन्ता नहीं है ॥४९॥

सुबोधिनी—कामं भव इति। जयविजयावस्माभिर्व्याजेन शप्ताविति पक्षो नाऽस्ति, किन्तु भगवद्दर्शनलालसतया; अन्यथाऽस्माकमनिष्टं भवत्वित्याहुः-**कामं भव इति। स्ववृजिनैः** स्वकृतपापैः। नियतदुःखदं पापं वृजिनमित्युच्यते, नियमेन दुःखद वा। अतो यः परस्मै दुःखं प्रयच्छति, स हि स्वयमपि दुःखं प्राप्नोति, अतो नोऽस्माक **भवो निरयेषु स्तात्**, कामादीनां निरयद्वारत्वश्रवणात्। **'पापीयसस्त्रयः'** इति वाक्यात्तयोः कामादिदानम्। **निरयेष्विति** बहुवचनं न त्रित्वपरम्, देशादिविशेषे दानस्याऽधिकफलजनकत्वात्। **स्तादिति** प्रार्थनायां लोट्। अङ्गीकारेऽनङ्गीकरे चोभयथा हेतुमाह-**चेतोऽलिवदिति**। यथा भ्रमरो रसाविष्टः कालमपि न गणयति, रात्रावपि तत्र स्थितो बद्धो भवति, तथा **नश्चेतस्ते पदयोर्यदि रमेत**, तदा देहस्य नरके स्थितिर्नाऽस्माकं बाधिका। किञ्च, तदेवाऽस्माकं निरये वासो भविष्यति, अलिवद्यदि पदयो रतिर्भवेत्। स हि मधुलोभेन पुष्पपीडामविगणय्य मधु पिबति, तथा वयमपि फलार्थिनश्चेत् दर्शनार्थं द्वारपालयोरपराधं कृतवन्तः, अन्यथा मा भवत्वित्यर्थः। एवं मानसमुक्त्वा **वाच**निकमाहु-**वाचस्त्विति**। यदि नो **वाचस्तुलसीवत्**। स्वरूपगन्धादिरहिता अपि चरणारविन्दे शोभते यथा तुलसी, तथा वाचोऽपि पदचातुर्याद्यनपेक्षा भगवद्गुणप्रतिपादकत्वेनैव यदि शोभायुक्ताः स्युः, तदापि नरके वासो न बाधकः। तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति, तेन न समुच्चयः। किञ्च, यथा तुलसी परप्रेरणया चरणाविष्टा भवति, एवमन्यप्रेरणया भगद्गुणा अस्मद्वाचि निविष्टा भवेयुः, तदा नरको भवतु।

यदा स्वत एव निविष्टाश्चेत्, तदा न भविष्यतीत्यर्थः । कायिकमाह-**पूर्येतेति** ते गुणसमूहैर्गुणानामवान्तरजातिभेदैर्वा यदि **कर्णरन्ध्रः पूर्येत** अलमिति मन्यते, सर्वदा वा पूरितमेव तिष्ठति, निरन्तरश्रवणेन यथाऽन्यन्न प्रविशेत्तथा; पूर्ववदित्यर्थः ।।४९।।

व्याख्या--जय विजय को हमने यों ही छल से शाप दिया है, यों नहीं है किन्तु भगवान् के दर्शन की उत्कट इच्छा थी वह पूर्ण न होगी तो कदाचित किसी प्रकार की हमारी हानि न हो जावे इस भांति से शाप दिया इसलिये काम-भवः' कहा है 'स्ववृजिनैः स्वकृतपापैः' नियम पूर्वक जिससे दुःख मिले वह वृजिन (पाप) कहा जाता है । अतः जो दूसरे को दुःख देता है वह खुद भी दुःख पाता है इस कारण से भले हम लोगों का जन्म नरकों में हो, क्योंकि काम, क्रोध और लोभ तीन नरक द्वार कहे हैं, 'पापीयसस्त्रयः' इस वाक्य मे उन दोनों को (जय विजय को) काम आदि दिये हैं, निरयेषु बहुवचन तीन के लिये नहीं है, किन्तु अधिकता बताने के लिये है, क्योंकि विशेष उत्तम देश में किये हुए दान का फल अधिक मिलता है । 'स्तात्' यह पद लोह लकार का प्रार्थना अर्थ में दिया गया है । इस पाप करने के कारण नरक प्राप्ति होवे व न होवे दोनों में हेतु कहते है 'चेतोऽलिवत्' पाप का फल नरक मिले परन्तु वहां हम लोगों का चित्त रूप भ्रमर आपके चरण कमलों का रसपान करता रहे तो नरक भी स्वीकार है, और हमको इसका (नरक प्राप्ति का) दुःख भी नहीं होगा यदि आपके चरणों में चित्त रमण न करे तो नरक नहीं चाहिये कारण कि हमने शाप फल प्राप्ति के कारण दिया है वह पाप नहीं है अन्यथा शाप देते तो पाप होने से हम दोषी होते यों मानस कह कर वाचनिक कहते हैं 'वाचस्तु' जो हमारी वाणी तो, जो हम लोगों की वाणी तुलसी के समान स्वरूप एवं गन्ध से रहित होने पर भी चरणारविन्द में जैसे तुलसी शोभती है वैसे हमारी वाणी, पद रचना की चतुरता न होने पर भी भगवद्गुणगान युक्त होकर शोभती रहे तो नरकवासी भी हमें बाधक (दुःखद) नहीं हैं, 'तु' पद प्रथम विचार को अलग करता है इसलिए दोनों को साथ में नहीं दिया है, किञ्च जैसे तुलसी अन्य की प्रेरणा से भगवचरणों में प्रविष्ट होती वैसे भगवद्गुण हमारी वाणी में प्रविष्ट हो तो हमको भले नरक मिले यदि हमारी वाणी स्वतः गुणगान करे तो तब नरक न होना चाहिए, अब कायिक कहते हैं 'पूर्येत' हमारे कर्णरन्ध्र सर्व प्रकार के आपके गुणों से ऐसे भरपूर रहे हैं जिनमैं दूसरा कुछ प्रवेश न कर सके तब पूर्वतत हो ।।४९।।

आभास—एवं स्वापराधे स्वयमेव स्वदण्डमनूद्य, समागतानां किमेतदेव फलमिति, शङ्कायां समागमनफलं जातमित्याहुः—

आभासार्थ—इस तरह अपने अपराध का आपने ही अपना दण्ड कहा, तब शङ्का यह हुई कि भगवान् से सम्बन्ध में आये हुओं को क्या यह ही फल हुआ ? जिसके उत्तर में निम्न श्लोक में भगवत्समागम से मिले फल को कहते है–

श्लोक—**प्रादुश्चकर्थं यदिदं पुरुहूतरूपं तेनेश ! निर्वृतिमवापुरलं दृशोनः ।**
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान्प्रतीतः ।।५०।।

श्लोकार्थ—हे प्रभोः ! आपने यह मनोहर रूप हमारे सामने प्रकट किया है जिससे हमारे नेत्रों को परम सन्तोष हुआ है । यह स्वरूप बहिर्मख विषयासक्तों को

दृष्टि गोचर नहीं होता है । आप साक्षात् परब्रह्म हैं स्वेच्छा से कृपया हमारे नेत्रों के सामने स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं अतः उसको हम नमन ही करते हैं ॥५०॥

सुबोधिनी—प्रादुश्चकर्थेति । यदिदं रूपम्, हे पूरुहूत, **प्राःदुश्चकर्थं,** तेन प्रादुर्भूतरूपेण दृशो **निर्वृतिमवापुः** । दृष्टोनां परमसंतोषो जात इत्यर्थः । एवं सुखदातुः प्रत्युपकारोऽपि नमस्कारेणैवेत्याह—**तस्मा इदमिति । तस्मै भगवते इदं नम इद्विधेम** न हि शास्त्रानुसारेण कर्तुं शक्यते, अतोऽनुकरणमात्रमिति इदित्युक्तम् । इदित्यव्ययमिवार्थे । **पुरुहूतेति** यज्ञात्मकता, पुरुभिर्हूयत इति, पुरुधा वा इन्द्रादिरूपेण हूयत इति । स्वार्थे प्रादुर्भाव आगमनमेव, अन्तःकरणे तु सुखं न जातमिति भावः । शापदानेन चित्ते ग्लान्युत्पत्तेः । न चैतत्फलमल्पमिति मन्तव्यम्, यतो**ऽनात्मनां भवान् दुरुदयः प्रतीतो** दृष्टः । न विद्यते आत्मा येषाम् । यैरात्मैव नाशितो बहिर्मुखत्वादिभिस्तेषां दुरुदयः, दुःखार्थमनुदयो वा । **इदमिति प्रदर्शयन्तो नमस्कुर्वन्ति** । बगवानुपकारकर्तेत्याश्चर्यार्थम्—**तस्मै भगवते** इत्युक्तम् । **प्रतीत** इति प्रमाणम् ॥ ५० ॥

इति श्री भागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितबिरचितायां तृतीयस्कन्धे पञ्चदशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्या—हे प्रभो ! आपने जो यह स्वरूप किया है, उससे हमारे नेत्रों को बहुत सुख प्राप्त हुआ है एवं परम सन्तोष हुआ है । इस प्रकार का सुख देने वाले का प्रत्युपकार भी नमस्कार से ही किया जाता है यों 'तस्या........नमः' । वाक्य से कहते हैं, उस भगवान् को यह नमस्कार जैसा कहते हैं, क्यों कि शास्त्रानुसार नहीं कर सकते हैं, इसलिए केवल नमन का अनुकरण करते हैं इसलिए इव (समान) अर्थ में 'ईत्' शब्द दिया है ।

'पुरूहूत' पद से यज्ञात्मकता बताई है, बहुत जिनका आव्हान करते हैं अथवा इन्द्रादिरूप से जिसका आव्हान करने में आता है वह यज्ञस्वरूप भगवान् स्वंय पधारे हैं, वे हम मुनिओं के लिए ही प्रादुर्भाव हो यहां आये हैं ।

जय विजय को शाप देने से चित्त में ग्लानि की उत्पत्ति होने से अन्तः में इस प्रादुर्भाव से आनन्द नहीं हुआ है, किन्तु यह फल भी जो प्राप्त हुआ है वह अल्प न समझना चाहिये, क्योंकि आप अनात्माओं का (अर्थात्) बहिर्मुख विषयी, जिन्होंने आत्मा को भुला दिया है उनको प्रकट होते हुए भी दृष्टि गोचर नहीं होते है अथवा उनके कारण प्रकट नहीं होते हो, क्योंकि दर्शन न होने से उनको दुःख होगा, 'इदं' पद से यह सामने स्थित स्वरूप को दिखाकर नमस्कार करते हैं, भगवान् उपकार करते हैं यह आश्चर्यं कारक है यों जताने के लिए 'उस भगवान् को नमस्कार' कहा है, 'प्रतीतः' पद से प्रमाण कहा हैं ॥५०॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध पन्द्रहवें अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

(बन्ध सृष्टि) मतान्तर प्रकरण

"अध्याय"—१६

जय-विजय का वैकुण्ठ से पतन

कारिका—**मुनिमानससंतोषस्ततः स्तोत्र तथाविधम् ।**
शापस्थापननिर्याणे षोडशे विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—मुनियों को मानस सन्तोष, अनन्तर उसी प्रकार की स्तुति, **शाप की स्पष्टता का** एवं उनका निकल जाना १६ वें अध्याय में निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिक--**भक्तांना तु कृतिः सत्या वाक् सत्या ब्रह्मवादिनाम् ।**
मनो भगवतः सत्यमित्यध्यायविनिर्णयः ॥२॥

कारिकार्थ--भक्तों का (जय विजय का) कार्य (मुनियों को भीतर जाने से रुकावट) सत्य हुआ, ब्रह्मवादी मुनियों की वाणी सत्य (जय विजय को दिया हुआ शाप फलीभूत हुआ) हुई, भगवान् का मन (विचार) सत्य होवे यों इस १६ वें अध्याय में निर्णय किया गया है ॥२॥

कारिका--**मनसः प्रबलत्वाद्धि तेषां नान्यविरोधिता ।**
पूर्वयोरनभिप्रेतं तृतीयादेव सुस्थिरात् ॥३॥

कारिकार्थ-मन प्रबल होने से भक्त (द्वारपाल) और मुनियों की कृति से भगवान् के मानस विचार (मन) विरोधी न हुए, दोनों देवों के लिए जो अनिच्छित था वह विशेष दृढ़ तीसरे से हो गया अर्थात् उस समय लौकिक सघात रहित मुनियों को भी मन आदि का संसर्ग हो गया जिससे क्रोध उत्पन्न हुआ ॥३॥

कारिका--**अतो भगवतः सर्गलीलायां दुर्बलार (ऽव) तिः ॥३½॥**

कारिकार्थ--इस कारण से इस सृष्टि लीला में वा स्थिति लीला होने से प्रेम दुर्बल है ।।३½।।

आभास—एवं पूर्वाध्याये अर्द्धतुष्टानां मुनीनां स्तोत्रमुक्तम् । तयोः पूर्ण संतोषार्थं भगवान् ब्राह्मणस्तोत्रं कृतवानित्याह--

आभासार्थ--इस तरह १५ वे अध्याय में स्वल्प प्रसन्न हुए मुनियों ने भगवान् की स्तुति की है उनको (मुनियों को) पूर्ण प्रसन्नता हो तदर्थ भगवान् ब्राह्मणों की स्तुति करते हैं यों इस श्लोक में ब्रह्मा कहते हैं ।

श्लोक—**ब्रह्मोवाच । इति तद्गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम् ।**
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः ।।१।।

श्लोकार्थ—ब्रह्मा कहने लगे कि, योगधर्म पालन करने वाले मुनि जब इस प्रकार स्तुति कर रहे थे तब वैकुण्ठ धाम वाले सर्व समर्थ भगवान् उसका अभिनन्दन करते हुए निम्न प्रकार से कहने लगे ।।१।।

सुबोधिनो—**इति तद्गृणतामिति** । पूर्वोक्तप्रकारेण गृणतां **तेषां** भीतानां **मुनीनां** शास्त्रानुसारिणां वचनं **प्रतिनन्द्य** । तच्छब्देन वचनं प्राप्यते । प्रतिनन्दनं बहिरेव कृतम्, प्रतिनन्दनस्यैवाऽग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । **इदं** वक्ष्यमाणं **जगाद** । ननु किमित्येवं जगाद, यतो भक्तानां दुःखं भवति । तत्राह-**विकुण्ठनिलय इति** । विकुण्ठस्थानं निलयो यस्य । गृहागतानां संतोषः कर्त्तव्य इति । नन्वेवं सति भक्ताः पोडिता भवेयुरित्याशङ्क्याऽऽह-**विभुरिति** । स्वभृत्यान् सर्वप्रकारेणापि मोचयितुं समर्थः इत्यर्थः ।।१।।

व्याख्या—वे डरे हुए तथा शास्त्रानुसरण करने वाले मुनि ऊपर कहे हुए प्रकार से स्तुति कर रहे थे उसको सुनकर भगवान् उनके वचनों का अभिनन्दन कर कहने लगे, यह अभिनन्दन बाहर ही किया, कारण कि अभिनन्दन सामने ही कहा जाता है, भगवान् ने भक्तों के सामने इस प्रकार का अभिनन्दन कैसे किया ? जिससे भक्तों को दुःख होता है । इस पर कहते हैं कि भगवान् विकुण्ठ में विराजते हैं वह (विकुण्ठ) आपका घर है अतः घर में पधारे हुए सत्पुरुषों को सन्तोष हो ऐसे वचन कहकर उनका सन्तोष करना ही चाहिये, यदि यों किया जाता है तो भक्त दुःखो होंगे इस प्रकार की शङ्का होने पर कहते हैं कि 'विभुः' भगवान् सर्व समर्थ हैं जिससे अपने भृत्यो को सर्व प्रकार दुःख से छुड़ाने में शक्तिमान हैं यों तात्पर्य है ।।१।।

आभास--प्रथमतः सेवकयोरपराधं समर्थयति-

आभासार्थ--पहले भक्तों का अपराध है यों निम्न श्लोक में सिद्ध करते हैं-

श्री भगवानुवाच । श्लोक—एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च ।
कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रान्तामतिक्रमम् ।।२।।

श्लोकार्थ--श्री भगवान् कहते हैं कि, जय विजय मुझे वर देने वाले मेरे दो पार्षद हैं किन्तु मेरा तिरस्कार कर उन्होंने आपका बहुत अपमान एवं आपसे अत्याचार किया है ।।२।।

सुबोधिनी– एताविति । **एतौ** जयविजयौ, **तौ** पूर्वकल्पे मधुकैटभौ, **मह्यं** वरदानान्मदुत्सङ्गे मृताविति मया वैकुण्ठे समानीतौ । तदानौ बहूनां सेवकानां विद्यमानत्वात्सन्देहनिवृत्त्यर्थं नाम गृह्णाति-**जयो विजय एव चेति** । मदर्थ यो जयः स एकः, जयनामा च । इन्द्रियादीनामन्यार्थं जयो ज्ञानमार्गे, मदर्थं जयो भक्ति मार्गे, अन्तःकरणजय इत्यर्थः । विविधो जय इन्द्रियादीनां द्वितीयः । अत एवैतौ मम पार्षदौ, पार्षदि सभायां योग्यौ । यथाऽन्तःकरणे तज्जयो भगवत्स्थितौ हेतुर्भवति, तथा वैकुण्ठस्थितावेतावेव हेतुभूतौ । अत एवैतयोरुत्पत्तिविमर्शनेनाऽपराधकरण युक्तमेव । न हि साक्षान्मनसा भगवान् गन्तुं शक्यः, किन्तु जयेनैव शक्य इति भगवत आनन्दरूपस्य सहज सुखत्वेन मनसः प्रवृत्तियोग्यत्वेऽपि जयप्रतिबन्धान्न भगवद्गमनम् । अत एव मां **कदर्थीकृत्य**, व्यवहारेऽपि ब्रह्मण्यत्वादिमद्धर्मान् दूरीकृत्य, **वो युष्माकमतिक्रमं बह्वक्रान्ताम्** ।।२।।

व्याख्या--ये जय और विजय पूर्व जन्म में मधु और कैटभ थे, इन्होंने मुझे वर दिया था, वे मेरी गोद में मेरे हाथ से मरे थे अत. इनको मैं यहां वैकुण्ठ में ले आया था, उस समय बहुत से सेवक विद्यमान (मौजूद) थे, यदि भगवान् नाम न लेते तो संशय पड़ता इसलिए 'जय विजय' यों नाम लिये ।

ज्ञान मार्ग में इन्द्रियादि पर जय अन्य के लिए की जाती है भक्ति मार्ग में उन पर अन्तःकरण पर जय मेरे लिए की जाती है, इन्द्रियादि का विविध जय दूसरा जय (विजय) नाम वाला पार्षद है, इस कारण से ही ये दोनों मेरे पार्षद अर्थात् सभा में रहने योग्य हैं, जैसे अन्तःकरण में उनकी जय भगवान् की स्थिति का कारण होती है, वैसे ये वैकुण्ठ में स्थिति के हेतु हैं, इस कारण से इन दोनों की उत्पत्ति का विचार करने से समझ में आता है कि, इनका अपराध करना उचित ही है क्यों कि मन, जय के सिवाय सीधा भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता है, अतः भगवद्दर्शन जय द्वारा ही हो सकता है, भगवान् आनन्द रूप हैं वे स्वाभाविक सुख होने से मन उसकी प्राप्ति की प्रवृति योग्य होते हुए भी जय के प्रतिबन्ध से भगवान् के पास नहीं जा लकता है, इस कारण से ही मेरा ध्यान (विचार) न कर व्यवहार में भी मेरे जो ब्रह्मण्यत्व आदि धर्म हैं उनको भी दूर कर आपका इन दोनों ने बहुत अपमान किया है ।।२।।

आभास– अत एवैतयोर्दण्ड उचित इत्याह–

आभासार्थ—इस कारण से इन दोनों को आपने जो दण्ड दिया है वह उचित ही है यों निम्न श्लोक में कहते है–

श्लोक—यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः ।
स एवाऽनुमतोऽस्माभिर्मुनयो ! देवहेलनात् ॥३॥

श्लोकार्थ—मेरे समान धर्म वाले आपने जो इन दोनों को दण्ड दिया है, हे मुनियों ! उसके साथ हम सम्मत हैं क्योंकि इन्होंने देवों का (ब्राह्मणों का) अपमान किया है ॥३॥

सुबोधनी—यस्त्वेतयोरिति । तुशब्दो दण्डान्तरव्यावृत्त्यर्थः । यो जन्मत्रयात्मको दण्डः, स एवाऽनुमतोऽस्माभिः । भवद्भिर्मया चेति; सेवकसहितेन मया वा । उभावपि दण्डनीयावित्येतयोरित्युक्तम् । अनुव्रताः सधर्माः मत्कार्यं कृतमिति, ममाऽत्र महान् संतोष इति, तेषां कृत्यभिनन्दनम् । मुनय इति संबोधनं काकतालीयकरणव्यावृत्त्यर्थम्, अभिप्रायज्ञानार्थं वा । नन्वेतयोः कोऽपराधः ? द्वाररक्षा तु स्वधर्म इति तत्राऽऽह–देवहेलनादिति ।अस्मद्दे वा ब्राह्मणाः जरोक्षदेवो यज्ञः, प्रत्यक्षदेवो यज्ञाधिष्ठाता विष्णुरिति । स एवेत्येवकारेण इदानीमन्यो न वक्तव्य इति सूचितम् ॥३॥

व्याख्या–'तु' शब्द देने का आशय है कि जो आपने दण्ड दिया है वह उचित होने से बदलना नहीं है । आपका दिया हुआ यह दण्ड ही हम (आप और मैं अथवा मेरे सेवक और मैं) अनुमोदन करते है, ये दोनों दण्ड के योग्य थे, इसलिए 'एतमोः' द्विवचन कहा है, 'अनुव्रताः' शब्द का भावार्थ है कि आप मेरे हमारे समान धर्म वाले हो अतः मेरा कार्य आपने ही कर दिया मुझे इस विषय में बहुत सन्तोष है, यों कहने से उनकी कृति का अभिनन्दन (प्रशंसा) किया है, यह कार्य आपने अचानक नहीं किया है यों बताने के लिए अथवा आपके अभिप्राय को मैं जानता हूं यों कहने के लिए, हे मुनियों ! सम्बोधन दिया है ।

इनका क्या अपराध है, द्वार की रक्षा करना तो इनका अपना धर्म है, जिसका पालन किया है इसमें कौनसा अपराध किया है ? इस पर कहते हैं 'देपहेलनात्' देवताओं का अपमान अपराध है वह इन्होंने किया है, ये देवता ब्राह्मण हैं, ब्राह्मण ही मेरे देवता हैं, यज्ञ परोक्ष देव हैं। प्रत्यक्ष देव यज्ञ का अधिष्ठाता विष्णु है, ये तीनों देव इनमें हैं अतः दण्ड इन तीन रूप वालों ने दिया है अतः वह ही दण्ड पर्याप्त है दूसरे की आवश्यकता नहीं है इसलिए दूसरा दण्ड नहीं कहना चाहिए यों सूचित किया है ॥३॥

आभास—एवमपराधदण्डौ निरूप्य, सेवकापराधं दूरीकृत्य, दण्डापराधं च दूरीकरोति प्रार्थनया–

आभासार्थ—यों अपराध एवं दण्ड का निरूपण कर सेवक का अपराध दूर कर, अब इस श्लोक द्वारा मुनियों ने जो द्वारपालों को दण्ड देने का अपराध किया वह और अपना अपराध दूर करते हैं—

श्लोक——तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे ।
तद्धि ह्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृतम् ।।४।।

श्लोकार्थ——इसलिए मैं आज आपसे क्षमा याचना कर आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ, क्योंकि ब्राह्मण मेरे लिए उत्तम देव हैं, अतः मेरे सेवकों ने उनका जो अपराध किया वह मैंने ही किया यों मानता हूँ ।।४।।

सुबोधिनी—तद्वः प्रसादयामिति । युष्मानद्य प्रसादयामि, यतोऽपराधो जात इति । अपराधो हि महत्यल्पस्य भवति, प्रकृते तु कथमपराध इति चेत्तत्राऽऽह–**ब्रह्म दैवं परमिति** मम **दैवं** देवता, **ब्रह्म** ब्राह्मण जाति। । **परमिति** विष्णवपेक्षयाऽपि । आधिदैविको विष्णुर्देवो भवति, '**विष्णुर्वा अकामयत. पुण्यं श्लोकं शृण्वीय न मा पापाकीर्तिरागच्छेदिति । स एतं विष्णवे श्रोणायै पुरोडाशं त्रिकपाल विरवपत्** इति श्रुतेः । तद्यावृत्त्यर्थमाह-**परमिति** । प्रत्यक्षश्रुतौ देवापेक्षया ब्राह्मणामुत्कर्षविधानात्, '**एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणा इति**' । तदाह—**हि**शब्देन । ननु भवतः कोऽपराधस्तत्राऽऽह–**तद्धिह्यात्मकृतं मन्य** इति । यत् **स्वपुम्भि;** स्वसेवकैरसत्कृतम्, तदह**मात्मकृतमेव मन्ये** । हि युक्तोऽयमर्थः, भृत्यकृत एव स्वामिकृता भवन्तीति, अन्यथा भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डो न स्यात् । अनेन मयैव भवन्तो निवारिता इत्यप्युक्तम्। कृतमपि तद्युक्तमेव, द्वारपालकधर्मत्वात् । अत एव हि द्वयमन्योन्यं हेतुभूतम् । यद्यप्येतादृशे लोक; स्वाम्यपराधं न मन्यते, तथाप्यहं मन्ये; यतस्ते स्वपूरुषाः । ४ ।

व्याख्या—आज आपसे क्षमा लेकर आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ, क्योंकि मुझसे अपराध हुआ है, अपराध तो वह कहा जाता है जो छोटे से बड़े का हो प्रकृत विषय में अपराध कैसे ? आप बड़े हैं हम छोटे हैं, इस पर कहते हैं कि ऐसा नहीं है क्योंकि 'ब्रह्मदेवं परं' मेरे लिए ब्राह्मण जाति ही परम देव हैं इसलिए ब्राह्मण देव होने से विष्णु से भी आप बड़े हैं, विष्णु आधि दैविक देव माना जाता है, जैसे कि 'विष्णुर्वा' अकामयत, पुण्यं श्लोकं शृण्वीय न मा पापाकीर्ति–रागच्छेदिति । स एतं विष्णवे श्रोणायै पुरोडाशं त्रिकपालं निरवपत्' श्रुति है, जिसका भावार्थ है, कि विष्णु ने इच्छा की कि मैं पूण्य श्लोक का श्रवण करूं, जिससे मुझे पापो को अपकीर्ति प्राप्त न होवे, तब उसने विष्णु को तीन पात्रों में यवागू की बलि अर्पण को, इससे यह बताया है कि विष्णु आधिदैविक हाने पर देव होते हैं किन्तु ब्राह्मण स्वतः देव हैं इसलिए 'परम्' पद देकर उनकी उत्तम कोटि में गणना की है, अन्यत्र भी श्रुति कहती है कि 'एतेवै देवाः प्रत्यक्षं यद्ब्रह्मणा इति 'ये जो बाह्मण हैं वे प्रत्यक्ष देव हैं' वह 'ही' शब्द से सिद्ध करते हैं 'तत् हि आत्म कृतं मन्ये' जो मेरे, सेवक द्वारपालों ने असत् कर्म किया वह मैंने ही किया है यों मानता हूं यह ही अर्थ उचित है, सेवक के किये हुए दोष (अपराध) स्वामी के किये हुए माने जाते हैं यों न होता तो भृत्य के अपराध पर स्वामी को दण्ड क्यों मिलता ? इससे यों कहा कि मैंने ही आपको भीतर आने से रोका है यह कृत्य उचित ही था क्योंकि द्वारपाल का यह धर्म ही था इस कारण से दो 'हि' शब्द परस्पर के कारण प्रदर्शित करते है यद्यपि ऐसे विषय में लोक स्वामी का अपराध नही मानते हैं तो भी मैं मानता हूं क्योंकि वे मेरे पुरुष (सेवक) हैं ।।४।।

आभास–प्रसादश्चाऽत्र सर्वथा कर्मव्यः, अन्यथा महदनिष्टं स्यादित्याह—

आभासार्थ इस प्रसङ्ग में सर्वथा अनुग्रह करना ही चाहिये नहीं तो महान् अनर्थ होगा यों निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक–यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि ।
सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवाऽऽमयः ॥५॥

श्लोकार्थ— सेवकों के अपराध करने पर लोक स्वामी का नाम लेकर उसकी निन्दा करते हैं वह निन्दा स्वामी की कीर्ति का इसी तरह नाश कर दो जैसे चर्मरोग त्वचा का नाश करता है ॥५॥

सुबोधनी—यन्नामानीति । महतामपि लोकापवाद्भयं भवति । अत एव भृत्ये कृतागसि लोको यस्य स्वामिनो नाम गृह्णाति । **नामानीति**बहुवचनं तस्य सर्वसंबन्धेनाऽधिक्षेपार्थं सर्वाण्येव नामानि गृह्णाति; **चकारात्तस्य** गुणान् कर्माणि च निन्दार्थमुद्घाटयति । किमतो यद्येवमत आह–**सोऽसाधुवाद इति** । स लोकैरुच्चार्यमाणोऽसाधुवादः । असाधुत्वेन कीर्त्तनमपकीर्तिरिति यावत् । **तत्कीर्तिं यन्ति**, यद्विषयकः स्वयम् । ननु विद्यमानां कीर्तिं प्रसिद्धां कथं हन्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन समर्थयति-**हन्ति, त्वचमिति आमयो** रोगः श्वित्रादिः, यथा शरीरे विद्यमान एव तस्य त्वचं हन्ति, स्वस्य रूपमेव प्रकटयति ॥५॥

व्याख्या—महत्पुरुषो को भी लोकापवाद (लोको में हुई निन्दा) से भय उत्पन्न होता है, इस कारण से ही सेवक के अपराध करने पर लोक स्वामी का नाम लेते हैं अर्थात् यह सब अपराध स्वामी का है स्वामी की इच्छा व आज्ञा के बिना सेवक यों नहीं कर सकते हैं, इस प्रकार होने वाली निन्दा से महापुरूष भी डरते हैं 'च' पद देने का आशय है कि सेवक के अपराध करने के कारण लोक स्वामी के गुण और कर्म सबकी निन्दा करने लग जाते है यदि कोई कहे कि भले करे, करने दो, इससे क्या होगा ? इस पर कहते हैं कि लोकों से जो कुछ कहा जाना है वह 'असाधुवाद' है अर्थात् असाधु वाद (अपकीर्ति) (कहने की अशिष्ट नोति) है, वह अशिष्ट नी.त एक प्रकार से निन्दा है उसका विषय यहां मैं हूँ जो कीर्ति प्रसिद्ध हूं एवं विद्यमान (मौजूद) हूँ उस कीर्ति को कैसे नाश किया जायेगा ? इसका उत्तर दृष्टान्त से समझाते हैं कि विद्यमान स्वच्छ शरीर में कोढ़ की (श्वेत कोढ़ की) जैसे त्वचा का नाश करती है अर्थात् वह व्याधि (श्वेत कोढ़) त्वचा का रूप बदल अपने समान श्वेत कर देती है वैसे ही निन्दा रूप व्याधि उस स्वच्छ गुण रूप यशको नष्ट करती है। ॥५॥

आभास—नन्वीश्वरस्य सर्वनियन्तुर्दासानुदासस्य तुच्छस्याऽन्तःप्रवेशाभावे को वा अपराधः? लोको हि तु, महाराजगृहे क्षुद्राणां प्रवेशो नाऽस्तीति, कथमपकीर्तिं वदेदित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ– तुच्छ दासानुदास का यदि सर्व नियन्ता ईश्वर के द्वार में प्रवेश नहीं हुआ तो उनका कौनसा दोष ? लोक में भी महाराजा के गृह में शूद्रों का प्रवेश नहीं होता है तब उनकी लोक तो अपकीर्ति नहीं करते हैं, इस प्रकार की शङ्का का उत्तर इस श्लोक में देते हैं।

श्लोक–यस्याऽमृतामलयशःश्रवणावगाहः सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः ।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्तिश्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ।६।

श्लोकार्थ —जिस मेरे अमृत तथा निर्मल यश का श्रवण रूप स्नान, चाण्डाल पर्यन्त सकल जगत् को उसी समय ही पवित्र करता है। वैसे विकुण्ठ आप लोगों से ही मैंने कीर्ति प्राप्त की है, अतः जो कोई भी आपके विरूद्ध आचरण करेगा उसको मैं काट डालूँगा चाहे वह मेरी प्रजा ही क्यों न होवे ॥६॥

सुबोधिनी -**यस्येति** । उपजीव्यत्वाद्ब्राह्मणातिक्रमे ममाऽपकीर्ति वदेदेव । उपजीव्यत्वं च मम कीर्तिस्तदधीनेति । तदेवाह–**यस्य** ममाऽमृतममलं यद्यशः, तस्य **श्रवणावगाह**, **आ श्वपचात्** श्वपचं मर्यादीकृत्य, **जगदेव सर्वं पुनाति** । एवं जगत्पवित्रकीर्तित्वादहं **विकुण्ठः** कुण्ठरहितः । कस्मिन्नप्यंशे दोषरहित इत्यर्थः । एतादृशोऽप्यहं पुरुषोत्तमो **भवद्भ्य** एवोपलब्धा सुतीर्थरूपा **कीर्तिर्यस्य** तादृशः । **यशः** पराक्रमजन्यम्, **कीर्तिः** सदाचारजन्या । मम यशो जगति पावित्र्यमपि संपादयति, मन्नाम्ना दुष्टरूपपापनिग्रहात् । पराक्रमो हि दोषनिवारणरूपः । स चेद्दोषः सहजोऽपि भवेत्सोऽपि मद्भयान्नश्येत्, अतश्चण्डालदेहे उत्पादकोऽपि दोषो नश्यति । अतो वैकुण्ठस्थान यशःपुञ्जेन विराजमानं **मम** सामर्थ्यसूचकं वर्तते । तथापि कीर्तिः, साधवश्चेत् कीर्त्तयेयुः, तदैव भवति । तेन कीर्त्यर्थे मम सेवकाः सदाचाराः, ते मत्परायणा भवन्ति; निरन्तरं कीर्तनेन कृतार्थाश्च भवन्ति । अतस्तीर्थभूतकीर्तिसंपादकत्वेनोपजीव्या ब्राह्मणाः । अतस्तेषु योऽपराधं करोति, मद्बाहुरूप इन्द्रोऽपि, तमपि छिन्द्याम् । अत एव बृहस्पत्यतिक्रमे इन्द्रस्य महती पीडा संवृत्ता राज्यभ्रंशादिरूपा । अतो युक्तमेव प्रसादनमित्यर्थः । ॥६॥

व्याख्या- मेरे उपकारक ब्राह्मणों का अतिक्रम (अपराध) हो तो मेरी अपकीर्ति लोक करेगें हीं मेरा यश उनके आधीन हैं क्योंकि वे मुझ पर सदैव उपकार वृष्टि कर रहे हैं। वह स्पष्ट कर कहते हैं 'यस्यामृतामलयश. श्रवणावगाह इत्यादि' जो विकुण्ठ रूप मरे अमृत तथा निर्मल यश का श्रवण रूप स्नान, चण्डाल पर्यन्त समस्त जगत् को उसी ही समय पवित्र कर देता है यों जगत् को पवित्र करने से कीर्त्ति मान होने से मैं विकुण्ठ कहा जाता हूं अर्थात् किसी भी अंश से मुझ में दोष न होने से निर्दोष हूं, ऐसा भी मैं पुरुषोत्तम हूं तो भी आप लोगों द्वारा ही सुतीर्थ रूपा कीर्ति मैंने प्राप्त की है. यश पराक्रम से उत्पन्न होता है, कीर्ति सदाचार से उत्पन्न होती है, मेरा यश जगत् में पवित्रता भी सम्पादन करता है, मेरे नाम से दुष्टरूप पापों का निग्रह होता है, पराक्रम ही दोषों का निवारक है यदि वह दोष सहज भी होवे तो भी मेरे भय से नाश हो जाना चाहिये, अतः जिस दोष ने जीव को चाण्डाल देह दी है वह दोष भी नाश हो जाता है, अतः वैकुण्ठ स्थान यशः पुञ्ज से सुशोभित हो मेरे सामर्थ्य का सूचक है, तो भी कीर्ति तब होती है जब साधुजन कीर्ति गाते हैं, उस

कीर्तिगान से जो मेरे सेवक सदाचारी हैं वे मेरे परायण होते हैं और निरन्तर कीर्तन करने से कृतार्थ होते हैं, अतः ब्राह्मण तीर्थ रूप कीर्ति प्राप्त करने वाले होने से मेरे उपकारक हैं, इसलिए जो भी इनका अपराध करता है, यदि वह मेरा बाहु रूप इन्द्र भी हो तो उसको भी काट डालूँ. इस कारण से ही बृहस्पति का अपराध करने पर इन्द्र को राज्यभ्रंश आदि महती पीड़ा भोगनी पड़ी अतः आपको क्षमा करनी ही उचित है, यों अर्थ (आशय) है ॥६॥

कारिका—कीर्तिर्लक्ष्मीस्तथा भोगस्त्रयं विप्रप्रसादतः। भृगोः कन्या यतो लक्ष्मीर्मुखं चाऽपि द्विजा
मम ॥१॥

कारिकार्थ—कीर्ति, लक्ष्मी और भोग ये तीन ही ब्राह्मणों की कृपा से होते हैं क्योंकि लक्ष्मी भृगु (ब्राह्मण) की कन्या है और ब्राह्मण मेरे मुख भी हैं। १॥

आभास—तत्र कीर्ति निरूप्य ब्राह्मणाधीनां लक्ष्मी निरूपयति—

आभासार्थ—कीर्तिकानिरूपण कर इस श्लोक में कहते हैं कि लक्ष्मी भी ब्राह्मणों के आधीन है—

श्लोक—यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं सद्यः क्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम्।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान्वहन्ति ।७।

श्लोकार्थ—जिनकी (ब्राह्मणों की) सेवा करने से ही मेरी चरणरज ऐसी पवित्र बनी है कि वह समग्र पापों को तत्काल नाश कर देती है, और इस कारण से ही मुझे ऐसा सुन्दर स्वभाव प्राप्त हुआ है जो उदासीन रहने पर भी लक्ष्मी मुझे क्षणमात्र के लिये भी नहीं छोड़ती है, यद्यपि इन्हीं (लक्ष्मी) के लेशमात्र कृपा कटाक्ष के लिये दूसरे देव नाना प्रकार के व्रतों तथा नियमों का पालन करते हैं ॥७॥

कारिका—यत्सेवयेति। स्त्रियः स्वभवतो दुष्टाश्चञ्चलाश्चाऽपि नित्यशः। आचारजनिता कीर्तिर्ब्राह्मणाश्च नियामकाः ॥१॥

कारिकार्थ—स्त्रियाँ स्वभाव से दुष्ट और नित्य चंचल भी हैं कीर्ति सदाचरण से प्राप्त होती है ब्राह्मण ही उसके (सदाचार के) नियामक (उपदेशक) हैं ॥१॥

कारिका—ईश्वरस्य तु याः पत्न्यस्ता विरक्ते न हि स्थिराः। भृगोराज्ञां ततः प्राप्य स्थिरा लक्ष्मीस्ततो
मयि ॥२॥

कारिकार्थ—प्रभु की जो पत्नियां होती हैं वे भी वैराग्य वाले पुरुष में स्थिर नहीं रह सकती है, अतः मुझमें लक्ष्मी भृगु की आज्ञा से स्थिर रही है ॥२॥

सुबोधिनी—स्वोत्कर्षं वर्णयति ब्राह्मणोत्कर्षार्थम् येषां ब्राह्मणानां सेवया चरणपद्मे पवित्रो रेणुर्यस्य। सेवाजनित संस्कारश्चरणे तिष्ठतीति चरणसंबन्धी यः कश्चन रेणुः, सगङ्गावत्पवित्ररूपो भवति। **रेणोरिति**। पाठे एतावद्भिन्न वाक्यम्। द्वितीयान्तपाठे तु पूर्वार्द्ध विलेषणान्युद्देश्यानि ब्राह्मणसेवासाध्यानि। विरक्तिरपि तत एव, विरक्तिविरोधी नियतो लक्ष्मीस्थितिलक्षणो धर्मोऽपि तत एव। लक्ष्म्या माहात्म्यं ब्राह्मणमाहात्म्यार्थम्। मद्यः क्षतमखिलानां मल येन। प्रतिलब्धं शीलं येन। **यस्या लक्ष्म्या प्रेक्षालवार्थे इतरे ब्रह्मादयो नियमान् कृच्छ्रादीन्**. भगवव्र् दतानि वा, **वहन्ति**। लक्ष्मीकटाक्षकामनया तपः कुर्वन्तीत्यर्थः। पापनाशकत्वमपि ब्राह्मणसेवया, तद्वाक्यादेव नियमात्, सारस्वतकल्पे सर्वस्य ब्राह्मणाधीनत्वाच्च। वस्तुतस्त्वपहतपाप्मा भगदान्, अत एव लोकानामपि तत्संबन्धात् पापनाशः, लक्ष्म्या अपि दोषनिवृत्तिः। प्रभूणां भोगाभिनिविष्टानां सदाचारपरिपालनलक्षणः सुस्वभावो महापुरुषागमनेन महापरूषसेवया संपद्यते, रागनिवृत्तिरपि तदनुरोधादेव। वस्तुतस्तु धर्मो भगवत्येव प्रतिष्ठित इति निर्दुष्टत्वाच्च रागानाचाराभावः ॥७॥

व्याख्या—ब्राह्मणों का उत्कर्ष दिखाने के लिये ही भगवान् अपना उत्कर्ष कहते हैं ब्राह्मणों की सेवा से मेरे चरण कमल की रज पवित्र हुई है, सेवा से उत्पन्न संस्कार चरण में रहता है, इसलिए चरणों के सम्बन्ध वाली रेणु अङ्ग की तरह पवित्र रूप बन गयी है, यदि मूल श्लोक में 'रेणुः' प्रथमान्त हो तो यह वाक्य यहां तक भिन्न समझना. यदि 'रेणु' द्वितियाविभक्ति में हो तो पूर्वार्द्ध में कहे हुए विशेषण, ब्राह्मणों की सेवा से प्राप्त हुए गुण दिखाने वाले हैं, यों जानना। विरक्ति भी उससे (ब्राह्मण सेवा से) ही हुई है वैराग्य से विरुद्ध जो नियमित लक्ष्मी की स्थिति रूप धर्म भी उससे (ब्राह्मण सेवा से) हुआ है। ब्राह्मणों के माहात्म्य के लिए ही लक्ष्मी का माहात्म्य वर्णन किया है, उसी ही क्षण में सकलों का पाप नाश करने वाले सदाचरण (सदाचार) को प्राप्त करने वाले भी ब्राह्मण सेवा से हम हुवे हैं, जिस लक्ष्मी की क्षणमात्र कटाक्ष प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मादि दूसरे देव कृच्छ्रादि व्रतों के नियम और भगवद्व्रत पाल रहे हैं. अर्थात् लक्ष्मी के कटाक्ष की कामना से तपस्या कर रहे हैं यों आशय है, पाप नाशकत्व भी ब्राह्मण सेवा से हुआ है कारण कि उनके वाक्य से ही नियम पालन हो सकता है सारस्वत कल्प में सब कुछ ब्राह्मणों के अधीन था, वास्तव में तो भगवान् ही पाप नाशक हैं उनके ही सम्बन्ध से लोगों का पापनाश होता है लक्ष्मी के दोषों की भी निवृत्ति इनके सम्बन्ध से होती है, भोगासक्त प्रभुओं का सदाचार पालन रूप उत्तम स्वभाव महापुरुषों के पधारने से तथा उनकी सेवा से होता है (हुआ है) आसक्ति निवृत्ति भी उनकी आज्ञानुसार चलने से होती है वास्तविक धर्म तो भगवान् में ही प्रतिष्ठित है जिससे दोष रहित होने से दोनों (भगवान् और लक्ष्मी) में आसक्ति एवं अनाचार का अभाव है। ७॥

आभास—ब्राह्मणाधीनं स्वस्य भोगमाह—

आभासार्थ—निम्न श्लोक में अपना भोग भी ब्राह्मणाधीन है, यों भगवान् कहते हैं—

श्लोक—नाऽहं तथाऽद्मि यजमानहविर्विताने श्च्योतद्घृतप्लुतमदन्हुतभुङ्मुखेन ।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः ॥८॥

श्लोकार्थ—जिन ब्राह्मणों ने अपने सम्पूर्ण कर्मफल मुझे अर्पण कर सन्तोष प्राप्त किया है वे ब्राह्मण जब घृतयुक्त नानाविध पकवानों का भोजन करते हैं तब उनके मुख से प्राप्त भोजन से जैसा मैं प्रसन्न होता हूं वैसा यज्ञ में अग्निरूप मुख में यजमान की दी हुई आहुतियों से प्रसन्न नहीं होता हूं ॥८॥

सुबोधिनी—**नाऽहंतथाद्मीति** । स्वभावतोऽहं स्वमुखेनाऽनश्नन्नेव तिष्ठामि, **'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'** इति श्रुतेः । गौणं च मम मुखद्वयम्, अग्निर्ब्राह्मणश्च कार्यरूपम् । तत्राऽग्न्यपेक्षयाऽपि ब्राह्मणो मम मुखं समीचीनम् । तदाह—**नाऽहं तथा हुतभुङ्मुखेनाऽद्मि** तर्हि यज्ञानां वैफल्यं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह-**अदन्नपि तथा नाऽद्मीति** **अदनमपि** वह्नेः सर्वभक्षकत्वात् काष्ठादिभक्षकत्वाच्च तस्य मुखत्वेऽनिष्टं भविष्यतीति न निषिध्यते, किन्तु निषेधेऽन्य एव हेतुरिति वक्तुमाह—**यजमानहविर्विताने श्च्योतद्घृतप्लुतमिति** । यजमानपदेन सत्रनिषेधः, क्रूरत्वात् बहुकर्तृकत्वाच्च **'किमेते सत्रिण.'** इति श्रुतेः; गणान्नत्वाच्च । हविर्यज्ञाः पश्वादिव्यतिरिक्ताः, अतो हविः शब्देन पश्वादिकं निषिध्यते । **विताने** विस्तारयज्ञे । **श्च्योतद्घृतप्लुतमिति** । उभयतश्च्योतता घृतेन प्लुतं हविर्हुतभुङ्मुखेनाऽदन् । अग्नौ प्रथमत आज्यश्च्योतनम्, पश्चाद्धविषः प्रक्षेपः, पुनः श्च्योतनमिति । तथापि हुतं भक्षयतीति, मन्त्रहोत्राद्यपेक्षित्वान्महता शब्देन हुतत्वाच्च तथा न भक्षणम् । ब्राह्मणमुखे तु नाऽयं दोषः । ब्राह्मणस्य विशेषणमनुघासं चरत इति । प्रतिकवलं भक्षयतः । तत्र पुरोनुवाक्यायै, याज्यायै, देवतायै, वषट्कारायेत्येकस्यामाहुत्यां चतुर्णां भागाः । अत्रैक एव प्रतिकवलं भक्षयति, स हि मुखत एव भक्षयति मुखस्याऽपि मुखमिति विशिष्टम् । यथाग्नेर्विशेष उक्तः, तथा ब्राह्मणमपि विशिनष्टि-**तुष्टस्येति** । **मयि तुष्टस्य**, विषयव्यतिरेकेणाऽपि केवल मय्येव प्राप्ते तुष्टस्य । **अवहितै** रहितैरपि **निजकर्मपाकै**स्तुष्टस्येति, कर्मवशात् प्राप्तेऽपि दुःखेऽनुद्विग्नस्य भगवति वा समर्पितैः । कर्मसमर्पणं कृत्वा तुष्टस्येत्यर्थः ॥८॥

व्याख्या—स्वभाव से मैं अपने मुख से भोजन नहीं करता हूँ जैसा कि श्रुति 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीत' कहती है भगवान् को मुख से भोजन करते हुए दूसरा (भक्त के सिवाय) कोई भी नहीं देखता है भगवान् कहते हैं साधारणतः भोजन के लिये मेरे दो गौण मुख हैं, (१) अग्नि और (२) ब्राह्मण, ये दो मुख ही मेरे भोजन का कार्य करते हैं इनमें से अग्नि से भी ब्राह्मण मेरा श्रेष्ट मुख है, इसलिये कहते हैं कि, 'नाह तथाऽग्नि मुखेनाद्मि' मैं वैसी प्रसन्नता से अग्नि मुख से भोजन नहीं करता हूँ (जैसा ब्राह्मण मुख से प्रसन्नता पूर्वक अरोगता हूं) तब तो यज्ञ करना निष्फल होगा ? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि ऐसा नहीं है कि मैं खाता ही नहीं हूँ खाता तो हूँ किन्तु ब्राह्मण मुख के समान प्रसन्नता पूर्वक नहीं क्योंकि, अग्नि सर्वभक्षण करती है, काष्ठादि भी भक्षण

करती है अतः यदि ऐसा मेरा मुख हो तो अनिष्ट हो जावे अतः मैं उसके द्वारा हवि का भोजन करता हूं निषेध नहीं करता हूँ निषेध का दूसरा कारण है, वह यह है कि, 'यजमानहविर्वितानेश्वयोतद्धतप्लुतामिति' जब यज्ञादि में यजमान द्वारा पहले घृताहुति दे फिर हवि दो जाती है हवि के बाद फिर घृताहुति दो जाती है तब मैं उस यज्ञ की हवि ग्रहण करता हूं. जिस यज्ञ में यजमान नहीं है जिसको 'सत्र' कहते हैं वहां मैं भोजन नहीं करता हूं क्योंकि सत्र का निषेध है कारण कि क्रूर होने से [१] और करने वाले बहुत होने से जैसा कि श्रुति कहतो है किमेते सात्रिणः' ये सत्र करने वाले कैसे हैं ? यजमान तो कोई है कि नहीं सत्र यजमान और अन्न भी बहुतों का है (जिसमे शुद्ध और अशुद्ध का ज्ञान नहीं) अतः सत्र यज्ञ नहीं है-

'हवि' शब्द से वे यज्ञ कहे हैं जिसमें पशु बलि नहीं दी जाती है, यज्ञ में होता अध्वर्यु आदि और मन्त्र आदि की आवश्यकता होतो है और मन्त्र जोर जोर से पढ़े जाते हैं-और उसमें (यज्ञ में) ४ भाग होते हैं इत्यादि झंझट के कारण प्रसन्नता से भक्षण नहीं कर सकता हूं ब्राह्मण भोजन में किसी प्रकार का झंझट (दोष) नहीं, ग्रास लिया, मुख द्वारा प्रसन्नता से पाया यह देखकर मैं उसको हर्ष से अरोगता हूं, क्योंकि ब्राह्मण मेरे मुख के भी मुख हैं और मेरी प्राप्ति से हो सन्तुष्ट हैं, दुःख प्राप्त हो तो भो व्याकुल नहीं होते हैं क्योंकि सर्व कर्म भगवदर्पण कर देने से सन्तुष्ट हैं इत्यादि गुणों से भगवान् प्रसन्न हो उनके मुख द्वारा हर्ष पूर्वक अरोगते हैं ।।८।।

आभास—एवं स्वोपकारेण ब्राह्मणान् स्तुत्वा स्वरूपतोऽपि ते महान्त इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह अपने पर किये हुए उपकारों के कारण ब्राह्मणों की स्तुति कर, इस श्लोक में कहते हैं कि स्वरूप से वे बड़े हैं-

श्लोक–येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोगमायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः किरीटैः ।
विप्रांस्तु को न विषहेत यःर्हणाम्भः सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान् ।।९।।

श्लोकार्थ—अखण्ड एवं असीम ऐश्वर्य वाली योगमाया मेरी विभूति है, मेरा चरणोदक (गंगाजी) चन्द्रमा को मस्तक पर धारण करने वाले शंकर सहित लोकों को पवित्र करता है, ऐसा भी मैं जिनकी पवित्र चरण रज को अपने मुकुटों पर धारण करता हूं, उन ब्राह्मणों के कर्म को कौन नहीं सहन करेगा ।।९।।

सुबोधिनी—येषामिति । महत्त्वं हि महतामनुवृत्त्या । महत्त्वं हि द्विविधम्, लौकिकमलौकिकं च । लौकिकमुत्तरोत्तरभावापन्नं भगवति विश्रान्तम् । सर्वलोकप्रसिद्धो हि भगवान् पुरुषोत्तमः, वेदप्रसिद्धोऽपि । तेन ज्ञापनं ब्राह्मणाधीनमित्यलौकिकज्ञानं तेषां वर्तत इति ते भगवज्ज्ञापका

---

[१] –बहुत समय चलने से क्रूर कहा गया है-

इति । **ये यथा मां प्रपद्यन्ते'** इति न्यायेन तदनुवृत्तिमपि भगवान् करोति । तेषामवयवत्वात् तदुत्कर्षो न स्वापकर्षं करोति । अधिकारोऽपि स्वेनैव दत्त इति, स्वधर्म एव तत्र विद्यत इति, स्वोत्कर्ष एव । यथा च ते अलौकिकप्रकारेण भगवन्तमुत्कृष्टमाहु, तथा भगवानपि लोके तेषामुत्कर्षमाह- **येषाममलाङ्घ्रिगजः किरीटैरहं बिभर्मि ।** अग्रे ब्राह्मणवृन्दं गच्छत् रज उत्थापयति तद्रजः किरीटेषु संबद्धं भवति । पावित्र्यं नामैकं भगवत्स्वरूपं सर्वपदार्थेषु सहजं तिष्ठति, संस्कारैराधीयते च । तत्र ब्राह्मणेषु पावित्र्यं पादयोः सहजम् अतस्तेषां चरणरजोऽमलं भवति । **किरीटैरिति** सर्वदा धारणं सूचितम् । अवतारभेदैर्मूलरूपेण वा तथा करोतीति वा । **अखण्डा विकुण्ठा योगमाया विभूतिश्च यस्य** माययोत्पत्तिस्थितिप्रलयाः, विभूत्या सर्वसौख्यम् । एवं सति न कस्याऽप्यपेक्षा, सर्वैरपेक्षित एव भवति । न च तयोर्नित्यशक्त्योर्विच्छेदो वा कार्याक्षमता वा सम्भवति। येषामिति । नाऽन्यद्विप्रत्वात्तेषां गुणान्तरमपेक्ष्यत इति ज्ञापितम् । विप्रपदेन योगोऽपि सूचितः । विशेषेण पूरणं च तेषां सहजो धर्मः । ज्ञानभक्तिव्यतिरेकेण चिदानन्दौ न पूरितौ भवत इति ज्ञानभक्तिमन्त एव योगेन विप्रा इति निरूपितम एतदुभयसद्भावे नाऽन्यदपेक्षितमिति । संस्कारस्त्वानुषङ्गिकः । अनेनैवोपकारेण भगवता तथा क्रियते । तुशब्देन योगरहिता व्यावर्त्यन्ते । एतादृशान् ब्राह्मणान् को न विशेषेण सहेत ? को वा तद्भारं नाऽङ्गीकुर्यात् ? भारस्त्वतिक्रमादिरूप एव भवति, अतस्त्वन्यलभ्यत्वाद्विप्रापराध इति नोक्तम् । येषामतिक्रमो मया सह्यते, तत्र कथमन्यो न सहत इत्यर्थः । ननु मायाविभूत्योर्विद्यमानत्वेऽपि पावित्र्यस्याऽभावाद्भगवान् विप्रापराधं सहतु नाम, कथमन्येन सोढव्य इत्याशङ्क्याऽऽह- **यदर्हणाम्भ इति । यस्य** ममाऽर्हणाम्भश्चरणोदकं गङ्गा, **सहचन्द्रललामलोकान्** महादेवसहितांस्त्रीनपि लोकान् पुनाति । धर्मः कृतः कर्तारमेव पुनाति, संबद्ध वा न तु मह (?) त्कालपर्यन्तम । परम्परासंबद्धान्, दूरस्थान्, बहून् सर्वतामसभेदसहितान् यत् पुनाति तदर्हणसंबन्धेनैवेति ज्ञापयति—**अर्हणाम्भ** इति । '**सद्य इति, सद्यः पुनाति गाङ्गेयम्**' इति वाक्यात् । भगवतः कालनियामकत्वान्न तत्संबन्धिनां कालापेक्षा । चन्द्रललामेति सर्वदाहकत्वेन तामसी शक्तिः स्वीकृतेति तत्तापव्यावृत्त्यर्थममृतमयश्चन्द्रः स्थापितः । क्रियाजनितो दोषस्तु न तेन निवर्त्तत इति गङ्गा स्थापिता, अन्यथा तावन् दोषो नाऽन्येन निवतत इति सूचयति ॥६॥

व्याख्या—महत्पुरुषों के अनुसरण करने से ही महत्व प्राप्त होता है, महत्व दो प्रकार का है, १ लौकिक २-अलौकिक, लौकिक महत्ता क्रमशः बढती हुई भगवान् में विश्रान्ति पाती है, सर्वलौक भगवान् पुरुषोत्तम हैं तथा वेद में भो प्रसिद्ध वे ही हैं, उनकी पहचान करानो ब्राह्मणों के हाथ में है. कारण कि उनको हो अलौकिक ज्ञान है इसलिए ही मेरी पहिचान कराने वाले हैं. ये यथा प्रपद्यन्ते' इस वाक्यानुसार जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भो उनको उसो प्रकार भजता हूं. इसलिए हो ब्राह्मणों को महत्ता का भगवान् गुण गाते हैं. उनकी प्रशंसा करने से भगवान् की न्यूनता नहीं होती है कारण कि वे ब्राह्मण भगवान् के ही अवयव हैं अधिकार भी उनको आपने ही दिया हैं, उन ब्राह्मणों में आपका ही धर्म विद्यमान है।

अतः ब्राह्मणोत्कर्ष वह भावका (भगवान् का) ही उत्कर्ष है। जैसे वे (ब्राह्मण, अलौकिक प्रकार से भगवान् को उत्तम कहते हैं, वैसे भगवान् भी लोक में उनका उत्कर्ष प्रकट करते हैं जैसे कि 'येषा-ममलाङ्घ्रिरजः किरीट रहं बिभर्भि' भगवान् के आगे स्तुति करते हुए ब्राह्मण चलते हैं उनकी चरण रज जो उड़ती है वह भगवान् अपने मुकटों में धारण करते हैं, पवित्रता नाम वाला एक भगवत्स्वरूप है सर्व पदार्थों में स्वाभाविक रहता है वह संस्कारों से बढता है, उसमें ब्राह्मणों के चरणों में सहज पवित्रता है, इस कारण से उनकी चरण रज निर्मल होती है, 'किरीट' पद से यह सूचित किया है कि यह रज सदैव धारण करते हैं अथवा पृथक्-पृथक् अवतारों के भेद से अथवा मूल स्वरूप से धारण करते हैं, तत्क्षण कार्य करने वाली योगमाया जिसकी विभूति है माया से उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होना है और विभूति से सुख प्राप्ति होती है इस कारण से भगवान् को किसी की अपेक्षा नहीं है, सब को भगवान् की अपेक्षा है, उन दोनों शक्तियों का कभी न नाश होता है और न कार्य करने की शक्ति लुप्त होती है। 'चेवा' पद से यह सूचित किया है कि, उनमें विप्रत्व है जिससे दूसरे गुणों की उनको अपेक्षा नहीं है। विप्र पद से योग भी इनमें है यह भी सूचित किया है, विशेष प्रकार से पूर्ति करनी यह इनका सहज धर्म है। ज्ञान और भक्ति के सिवाय चिदानन्दों को पूर्ति नहीं होती है इसलिये ज्ञान भक्ति वाले ही योगयुक्त विप्र होते हैं यों निरूपण किया है, इन दोनों के होते हुए दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं रहती है, यज्ञोपवीतादि संस्कार तो गौण है, इस ही उपकार के कारण ही भगवान् उनकी चरण रज मुकुटों में धारण करते हैं, 'तु' शब्द से यह सूचित किया है कि योगरहित अन्य व्यर्थ (निकम्मे हैं, ऐसे ब्राह्मणों का भार (कर्म) कौन विशेष प्रकार से सहन नहीं करे ? अथवा कौन इनका भार न उठावे ? भार शब्द का तात्पर्य अतिक्रम करना आदि है। अन्य शब्द से वह अर्थ प्राप्त हो जाने के कारण 'विप्रापराध' पद नहीं दिया है, जिनका अतिक्रम (अपराध) जब मैं ही सहन करता हूं तो दूसरे कैसे सहन नहीं करेंगे, माया विभूति के होते हुए भी पवित्रता के अभाव से भगवान् विप्रों का अपराध भले सहन करें दूसरे कैसे सहन कर सकेंगे ? इस शङ्का निवारणार्थ कहते हैं कि 'यदहृणाम्भः' जो मेरा चरणोदक (गङ्गा) महादेव सहित तीनों लोकों को पवित्र करता है, किया हुआ धर्म तो) करने वाले को ही पवित्र करता है अथवा उनसे जो सम्बन्ध वाले हैं, किन्तु दीर्घसमय तक पवित्र नहीं करता है, परम्परा से सम्बन्ध वालों से जो दूर रहते हैं, उनको और पृथक्-पृथक् तामस गुण वालों को जो पवित्र करता है वह चरणोदक के सम्बन्ध के कारण ही है इसलिये 'अहृणाम्भः' कहा है। जैसे कि कहा है 'सद्यः पुनाति गाङ्गेयम्' तत्काल गङ्गाजल पवित्र करता हैं।

भगवान् काल के नियामक हैं अतः उनके (भगवान् के) सम्बन्धियों को (भक्तों को) काल की परवाह नहीं है, शङ्कर ने सर्वदाहक तामशक्ति स्वीकार की है जिसके ताप को मिटाने के लिये अमृत-मय चन्द्रमा को धारण किया है उससे क्रिया जनित दोष तो नहीं मिटता अतः 'गङ्गा' धारण की है नहीं तो यह क्रिया से उत्पन्न दोष दूसरे से (गङ्गा के सिवाय) नहीं मिटता, यों सूचित किया हैं ।६।

आभास—एवं ब्राह्मणातिक्रमः स ढव्य इत्युक्त्वा ये न सहन्ते तेषां विपक्षे बाधकमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार ब्राह्मणों का अपराध हो तो भी सहन करना चाहिये जो लोग सहन न कर उनसे शत्रुता करते हैं उनको दुःख प्राप्त होता है यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—ये मे तनूर्द्विजटरान्दुहतीर्मदीया भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या ।
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान् गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः ॥१०॥

श्लोकार्थ— जिनको सत् दृष्टि पापों के कारण नष्ट हो गई और जो सर्प जैसे क्रोधी हैं वे ब्राह्मण, दूध देने वाली गोवें और अनाथ प्राणी ये मेरे ही शरीर हैं यों न समझे, मुझसे भिन्न समझते हैं उन्हें मेरे द्वारा दण्डार्थ नियुक्त यमराज के गृद्ध अपनी चोंचो से नोचते हैं ॥१०॥

सुबोधिनी— ये मे तनूरिति । ये द्विजवरादीन भेदबुध्धा द्रक्ष्यन्ति, तान् यमलोके गृध्रा कुर्वन्तीति **संबन्धः । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति'** इति श्रुत्या क्वचिदपि भेददर्शने संसारो भवतीत्युक्तम् । एतादृशेषु भेददर्शनेन यमयातना भवतीत्यधिकमुच्यते, **'यदा ह्येवैष.'** इति श्रुतेः अत्र भेदो भगवद्भेदः, स्वभेदस्य पूर्वसिद्धत्वात् । ननु विद्यमाने भेदे लोकप्रसिद्धे द्रष्टॄणां को दोष इत्याशङ्क्याऽऽह—**मे तनूरीति** । यदि योगी सहस्रं शरीराणि गृह्णाति, तथापि स एक एव; जीवस्यैकत्वात्, तथाऽनन्तमूर्तिः । तत्रापि **यज्ञरूप आधिभौतिक**शरीरद्वयं गृह्णाति, हविर्मन्त्रात्मकत्वाद्यागस्य । तत्र मन्त्रा ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठिताः, हविर्धेनुषु । ते चेद्ब्राह्मणा गावश्चाऽन्ये भवेयुः, तदा तेभ्य उद्धृतेषु मन्त्रत्वं हविष्ट्वं च न स्यात्, भगवद्व्यतिरिक्तास्ते लौकिका एव भवन्तीति । अत एवाऽन्यैरुच्चारिता मन्त्रा एव न भवन्ति, लौकिकवाण्योच्चारितत्वात् । अतस्ते ममैव तन्वः । तान्निर्दिशति—**द्विजवरान् दुहतीरिति** । यज्ञोपयोगित्वान्नाऽत्र विप्रपदम्, द्विजत्वमेवाऽत्रोपयोगि । जन्मोत्कर्षार्थं द्विजपदम् कर्मोत्कर्षार्थं वरपदं च । **दुहतीरिति** कर्तरि दुहधातोरतृप्रत्ययः सहजदोहार्थः तास्वेव हविष उत्पत्तेः, अग्निहोत्रार्थमेव च वत्सोत्पत्तेः । **मदीया इति** गवामधिको गुणः । मित्रत्वाद्भगवतोऽपि सर्वसखित्वात्तद्धर्मप्रविष्टया तदीयत्वम् । अथवा, **मदीया इति** भिन्न एव निर्देशः, भक्तिमार्गानुसारेण भगवद्भोगोपयिकहविर्दोहकर्तृत्वात् **भूतान्यलब्धशरणानीति** रक्षकत्वेन ज्ञानमार्गानुसारेण धर्मो निरूपितः । तत्रापि रक्षकत्वं भगवन्निष्ठमिति भेदाभाव उचित एव । एवं मार्गत्रयोपयोगिपदार्थान् ये मत्तो भिन्नान् जानन्ति, तेषां विशेषभयम् । ननु भगवत्त्वाज्ञानेऽपि, वस्तुतस्तेषां भगवत्त्वात्तद्दर्शने कथं नरकपातस्तत्राऽऽह—**अघक्षतदृश इति** । अघेन भेदजनितेन क्षता दृष्टिर्येषाम् । ब्रह्मवध इव भेदोऽप्यधर्महेतुः । अयं बधो ज्ञानमयः, तथापि क्रियामयाद्विशिष्टः, मूलविषयत्वात् । दण्डोऽपि चक्षुष एव । ननु व्यवहारे भेदोऽपेक्षित इति कथं तस्य दोषजनकत्वम् । तत्राऽऽह—**अहिमन्यव इति** । न व्यवहारमात्रं निषिध्यते, किन्त्वन्तःकरणारूढदोषत्वेन । सर्पैः स्वल्पोऽप्यपराधो न विस्मर्यत इति, वधान्तं च प्रयत्नं कुर्वन्ति, तथा हृदयेन चेद्दर्शनं तदा दण्ड इत्यर्थः । गृध्रमुखे प्रविष्टं चक्षुर्न कदाचिदप्यावृत्तं भवतीत्यनिर्मोक्षः सूचितः । रुषेति चक्षुषो विद्यमानत्वादेवैतैर्भगवदपराधः कृत इति चक्षुषि रोषः । मम रुषा

सहिता वा गृध्राः कुषन्तीति । तैर्जन्यते नाश एव, न तूपघातमात्रम् । अधिकं दण्डान् नयतीत्यधिदण्डनेता यमः । अल्पदण्डस्तु राजन्याद्यादिभिरेव क्रियत इति निरूपयति यमम् ॥१०॥

व्याख्या—जो लोग उत्तम ब्राह्मणादि को मुझसे पृथक् समझते हैं उनको यमलोक में गृद्ध अपनी चोंचो से नोच नोचकर खाते हैं । इस तरह वाक्य का सम्बद्ध (अन्वय है, मृत्योः स 'मृत्युमा प्नोति' वह मृत्यु के मृत्यु को प्राप्त होता है, इस श्रुति के अनुसार कभी भी भेद दृष्टि करने से संसार को प्राप्त करता है, जीव भेद तो पहले से है ही अब यदि भगवान् से भेद देखने हैं तो उनको यमयातना भोगनी पड़ती है यह अधिक कहा है, 'यदा ह्येवैषः' इस श्रुति में यह बात कही है ।

भेद तो विद्यमान है ही लोक में प्रसिद्ध दिख रहा है तब देखने वालों का कौनसा दोष ? इस शङ्का पर कहते हैं कि 'मे तनू' जब योगी सहस्त्र शरीर धारण करते हुए भी वह एक ही है क्योंकि सब ही में वह एक ही जोव है वैसे 'अनन्तमूर्त्ति' भगवान् अनन्त रूपों में भी वह एक हो है फिर भी यज्ञ स्वरूप भगवान् आधिभौतिक दो शरीर धारण करते हैं कारण कि यज्ञ, हवि और मन्त्ररूप है, इनमें से मन्त्र रूप ब्राह्मणों में है और 'हवि' गौओ में है, जो वे ब्राह्मण तथा गौएं भगवान् से पृथक् हो तो उनमें से उत्पन्न हुवे में मन्त्रत्व एवं हवित्व न होना चाहिये, भगवान् से पृथक होने से वे लौकिक हो जावेंगे तब उनके द्वारा उच्चारण किये हुए शब्दों में मन्त्रत्व ही नहीं होगा । अतः ब्राह्मणेतर यदि मन्त्र पढे तो भी उनमें मन्त्र का आधिदैविक रूप मन्त्रत्व प्रकट नहीं होता है, इससे यह सूचित किया है कि ब्राह्मण मेरे ही शरीर हैं, उनको दिखाते हैं । 'द्विजवरान् दुहतीरिति' यज्ञोपयोगी होने से यहां विप्र पद नहीं दिया है । यहां केवल द्विजत्व ही उपयोगी है, ब्राह्मणों का जन्म से हो उत्कर्ष दिखाने के लिए द्विज पद दिया है और कर्म से उत्कर्षार्थ 'वर' पद दिया है, 'दुहतीः' पद कर्ता अर्थ में दिखाने के लिये अतृप्रत्यय दिया है जिसका भावार्थ स्वाभाविक दूध देने वालो हैं, उनमें से ही यज्ञ की हवि उत्पन्न होती है, अग्निहोत्र के लिये ही वत्सोपत्ति करती है, 'मदीयां' ये मेरी हो है यों कहकर गोओं में अधिक गुण प्रकट किये हैं, भगवान् भी सब के सखा होने से उनके धर्म इनमें (गौओं में) प्रतिष्ठित होने से इनको तदीयत्व (भगवदीयत्व) है अथवा 'मदोया' पद से भिन्न निर्देश किया है, भक्तिमार्ग के अनुसार भगवान् के भोग के उपयोग हवि (पेय) दुहाती है, अनाथों की रक्षा रूप धर्म ज्ञानमार्गानुसारी धर्म निरूपण किया है वहां भी रक्षक पन भगवन्निष्ठ होने से भेद नहीं, वह उचित ही है, इसी तरह इन तीन मार्गों के (कर्म, ज्ञान और भक्ति) उपयोगी पदार्थों को जो मुझ से पृथक जानते हैं उनको विशेष भय होता है ।

भगवान्-पन के अज्ञान में भी वास्तविक तो वे भगवान् हैं ही तो उनके दर्शन करते हुए नरक में पात कैसे होगा ? इस पर कहते हैं कि भेदरूप पाप से जिनकी दृष्टि हो गई हैं, उनका नरक में पात होता है, ब्रह्मवध के समान भेद दृष्टि भी अधर्म का हेतु है, यह वध ज्ञानमय है तो भी क्रिया रूप होने से विशिष्ट (अधिक) अधर्म है, क्योंकि मूल विषय है, दण्ड भी नेत्रों को ही मिलता है । नरक में गिद्ध नेत्रों को नोंचते हैं, व्यवहार में तो भेद की अपेक्षा रहतो है इसलिये उसको दोष जनक कैसे कहा जाता है इस पर कहते है कि अहिमन्यवः' वे सर्प के समान क्रोधी होते हैं व्यवहार मात्र का निषेध नहीं किया जाता है, किन्तु अन्तःकरण में जो दोष आरूढ है उस का निषेध किया जाता है ।

सर्प स्वल्प (थोड़े से) भी अपराध को भूलते नहीं मारने के लिये प्रयत्न करते रहते हैं, वैसे वे भी दोषयुक्त हृदय से जब देखते हैं तब दण्ड भोगते हैं, गृध्र (गिद्ध) की चोंच में पड़ी हुई चक्षु (नेत्र) कभी भी फिर छूटती नहीं है, इससे उनका मोक्ष नहीं 'रूषा' क्रोध) पद से यह बताया है कि नेत्र होते हुए भी इन्होंने भगवान् का अपराध किया है इससे नेत्र में ही दोष है, अतः वे मेरे गृध्र चोंचों से नेत्रों को ही नोंचते हैं उससे नाश होता है। केवल दुःख नहीं देते हैं यह अधिक दण्ड यम करता है साधारण दण्ड तो राज-व्याधि आदि से मिल जाता है ॥१०॥

आभास—एवं विपरीते बाधकमुक्त्वा सन्माननायां प्रसादमाह–

आभासार्थ—इस तरह जो ब्राह्मणों का अपमान करते हैं उनको दण्ड मिलता हैं यह कह कर इस श्लोक में कहते हैं कि जो ब्राह्मणों का आदर कर सम्मान करते हैं वे मुझे प्रसन्नता पूर्वक वश में कर लेते हैं–

श्लोक–ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्ति तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः ।
वाण्याऽनुरागकलयाऽऽत्मज वद्गृणन्तः संबोधयन्त्यहमिवाऽहमुपाहृतस्तैः ।११।

श्लोकार्थ—ब्राह्मण तिरस्कार भी करे तो भी उसमें मेरी भावना करते हुए प्रसन्नता पूर्वक अमृत भरी मुस्कान से युक्त हो उसका आदर करते हैं, तथा रूठे हुवे पिता को एवं आप लोगों को मैं मनाता हूं, उसी तरह जो प्रेम पूरित वचनों से प्रार्थना कर उनको शान्त करते हैं उन्होंने मुझे वश में कर लिया व पा लिया ॥११॥

सुबोधिनी–ये ब्राह्मणानिति । **क्षिपतोऽपि ब्रह्मणान् अर्चयन्ति**, **तैरहमेवोपाहृतः** । सर्वपुरुषार्थरूपोऽहं तत्समीपे चेत् स्थितः, सिद्धा एव सर्वे पुरुषार्थाः । तेषु बन्धुत्वेनाऽपकारभयात्, लोकापकीर्तिभयाद्वा, दम्भेन वा यद्यर्चयन्ति, तदा नेदं फलम् । किन्तु **मयि धिया** भगवद्विषयकबुद्ध्या मत्तनुरिति । अथवा, मयि या बुद्धिरस्ति, ब्राह्मणाः सर्वथा उपास्या इति, तादृशबुद्ध्या । **क्षिपतो** गालीः प्रयच्छतो**ऽर्चयन्तीति** विरोधप्रदर्शनेन **नाऽयमर्थः** क्वचित्सेत्स्यतीति भगवदुपाहृतिर्नाऽतिप्रसक्तेति सूचितम् । तत्रापि तुष्यद्धृदतेः । चेत् क्रोधमन्तरेव स्थापयेयुः, तदा महदनिष्ट स्यादिति तेषां क्रोधस्य बहिर्निर्गमने महान्ममोपकारो जात इति ज्ञानं हृदयतोषे हेतुः । इदमतिमाहात्म्यज्ञाने भवति । किञ्च, स्मितेन सुधारूपेणोक्षितं पद्मसदृशं वक्त्र येषाम् । माहात्म्यज्ञाने विद्यमानेऽपि स्नेहेनैव दोषसहनम् । मन्दहासस्त्वन्तःक्षोभाद्यजननज्ञापकः । तद्गतस्नेहरसस्तन्निष्पीडनेन प्रकटो भवतीति बालकवत्तेषामाक्रोशः परमसंतोषहेतुर्भवतीति स्मितस्य सुधात्वम् । तस्याऽमृतत्वं स्वकार्यं जनयतीति । तदुक्षितवक्त्रत्वमुक्तम् । तथा सति वक्त्रमतिविकसित भवतीति वर्णस्पर्शयोर्धर्मजनितयोरत्राऽऽविर्भाव इति ज्ञापनार्थं पद्मपदम् । एवमन्तःकरणकायिकसंतोषमुक्त्वा वाचनिकं संतोषमाह–**वाण्येति** । वाण्या अनुरागाः कला भवन्ति, चन्द्रमस इव वृद्धिहेतवः।

एवं कायवाङ्मनप्रीति पुत्र एव भवतीति दृष्टान्तेन तथाकर्तृणां ब्रह्मभावो निरूपितः । अर्चनं कायिकद्रव्यैः गृणनं वाचा । **संबोधयन्तीति** व्यवहारार्थम्, सम्यक् बोधार्थं वा । आक्रोशेऽपि न तेषु वैषम्यं कदाचिदपीति सूचितम् । एतादृशानां दृष्टान्तोऽहमेव : ज्ञापनार्थमेवमुक्तम्, न तु स्वोत्कर्षार्थम्। यथा भृग्वतिक्रमे मया कृतमित्यर्थः। अहमुपाहृत इति फलवाक्यं भिन्नम्, अतो न पौनरुक्त्यम् । तेषामुत्कर्षार्थमन्ते कीर्तनम् ।।११।।

व्याख्या—यदि ब्राह्मण तिरस्कार भी करे तो भी जो, उनका आदर पूवक पूजन करता है उन्होंने मुझे ही वश में (प्राप्त) कर लिया है जब सर्व पुरूषार्थ रूप में उसके पाम हूँ तो उनके सकल पुरुषार्थ पूर्ण ही है, यदि उनका पूजा बन्ध है उस प्रकार से अपकार होगा इस भय से, तथा लोक में अपजस होगा इस भय से करते हैं, अथवा दम्भ (छल) से दिखाने के लिए करते हैं, तो उनको यह फल न होगा । किन्तु वे ब्राह्मण होने से भगवान् के ही रूप हैं इस बुद्धि से करते हैं व मुझमें जैसी बुद्धि है कि ये (भगवान्) सर्वथा सर्वदा उपास्य है वैमे ही बुद्धि से ब्राह्मणों को सर्वथा उपास्य समझ पूजते हैं, तब वह फल (अर्थात् मैं वश में हो जाता हूं) मिलता है । ब्राह्मण गाली देवे तो भी उनकी पूजा करते रहें तब वही फल मिलता है अर्थात् मैं वश में हो जाता हूँ, यदि ब्राह्मणों से विरोध कर उनका अपमान करते हैं तो यह फल नहीं मिलता है बल्कि वे दुःख भोगते हैं, इससे यह सूचित किया है कि भगवान् की प्राप्ति बहुत सरल नहीं है, ब्राह्मण पूजन प्रसन्नचित्त पूर्वक प्रेम से करना चाहिये, यदि चित्त में क्रोध रख पूजन किया जावे तो बड़ा अनिष्ट हो जायेगा इसलिये वे अपने क्रोध को बाहर निकाल दे तो उनका मेरे पर बड़ा उपकार हुआ समझूंगा । इस प्रकार का ज्ञान हृदय की प्रसन्नता में कारण है ऐसी प्रसन्नता तब होती है जब भगवान् के व ब्राह्मण के महत्व का विषय ज्ञान होता है,

अमृत रूप मन्दहास्यसिञ्चित कमलवत् मुख वाला होकर, माहात्म्यज्ञान विद्यमान होने पर भी स्नेह से ही उनका (ब्राह्मणों का) दोष सहन करना चाहिए, मन्दहास्य बताता है कि अन्तःकरण में क्षोभ आदि दोष मौजूद नहीं हैं, उनमें रहा हुआ प्रेमरस उन पर दबाव डालने से प्रकट होता है, इसलिए उनका (ब्राह्मणों का) क्रोध बालकों के समान समझने पर परम सन्तोष का हेतु होता है इस कारण मन्दहास्य को सुधा कहा है उसका अमृतत्व अपना कार्य करता है इससे (अमृतत्व से) सिञ्चित होने से मुख विकसित होता है जिससे (स्मित और अमृत रूप धर्म से) मुख में वर्ण और स्पर्श का आविर्भाव होता है । यों जताने के लिए 'पद्म' पद दिया है । इसी प्रकार अन्तःकरण एवं काया के सन्तोष का वर्णन कर वाणी के सन्तोष को कहते हैं, वाणी को कलाएं प्रमरूप होतो हैं और वे चन्द्रमा की कलाओं के समान वृद्धि बढने और क्षय घटने वाली हैं. इसी तरह काया, वाणी और मन की प्रीति पुत्र में ही रहती है अर्थात् पुत्र को ही पिता के लिए होती है । यों दृष्टान्त से इस प्रकार करने वालों का ब्रह्मभाव निरूपण किया है पूजन काया द्वारा द्रव्यों से, प्रशंसा वाणी से व्यवहार के लिए अथवा पूर्णरीति से बोध (ज्ञान) हो तदर्थ सम्बोधन करते हैं, इससे यों सूचित किया है कि ब्राह्मण तिरस्कार आदि करे तो भी उनमें मिषमता नहीं आती है, ऐसे करने वालों में से मैं (भगवान्) दृष्टान्त हूं । यों कहने से भगवान् ने अपना उत्कष नहीं दिखाया किन्तु ज्ञान देने के लिए यों कहा है, जैसे भृगु ने अतिक्रम (लात मार कर अपमान) किया तो भी मैंने उसकी पूजा

आदि से आदर ही किया, सबको यों ही करना चाहिए, जो यों करते हैं उन्होंने 'अहमुपाहृत' मुझे पा लिया, यह फल वाक्य पृथक् है, इसलिए पुनरूक्ति नहीं है, उनके उत्कर्ष के लिए अन्त में कीर्तन है ॥११॥

आभास—एतन्निरूपणस्य प्रकृतोपयोगमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार के निरूपण का प्रकृत चालू विषय में उपयोग है, यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तन्मे स्वभर्तु रवसायमलक्षमाणौ युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः ।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे यत्कल्पतामचिरतो भृतयोर्विवासः ।१२।

श्लोकार्थ–मेरे इन सेवकों ने मेरा अभिप्राय न जानकर जो आपका अपमान किया है उसका फल जो आपने इनको दिया है वह फल ये शीघ्र भोगकर मेरे पास लौट आवे, मेरे अनुरोध से आप इन पर इतना अनुग्रह कीजिये ॥१२॥

सुबोधिनी—तन्मे स्वभर्तुरिति। यत एवं ब्राह्मणानां स्वरूपम्, मया च तथा मन्यते। तदज्ञानात् तौ युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य भूयो ममाऽन्तिकमिताम्। अयं ममाऽनुग्रहो भक्तिरक्षार्थः। अत्र हेतुर्नाऽस्तीति ममैवाऽयमनुग्रह इत्युक्तम्। अधिकोऽप्यनुग्रहः कर्तव्य इति चेत्तत्राऽऽह–यत्कल्पतामिति। यस्मादनुग्रहात् भृतयोर्भृत्ययोः, भक्त्या पूरितयोर्वा। विवासः परदेशवासः। अचिरतः कल्पताम्, शीघ्रमेव परिसमाप्यताम्। जन्ममरणक्लेशाभावाच्छापो विवासत्वेनैवोक्तः। एवं भगवता शापः ममाऽन्तिकमिति पुनर्दासभावं प्राप्नुताम्। स्थिरीकृतः ॥१२॥

व्याख्या–क्योंकि ब्राह्मणों का स्वरूप इसी प्रकार का है जैसा कि अब मैंने वर्णन कर बताया है, मैं वैसा ही मानता हूँ, उसके अज्ञान से उन दोनों ने आपका अतिक्रमण (अपमान किया, जिसका दण्ड जो आपने इनको दिया वह भोग कर, फिर मेरे पास शीघ्र आ जावें, यह मेरा इन पर अनुग्रह भक्ति की रक्षार्थ है, इसमें किसी कारण की आवश्यकता नहीं है, इसलिए ही कहा है कि यह मेरा ही अनुग्रह है। यदि कहो कि विशेष अनुग्रह भी करना चाहिए इस पर कहते हैं कि, यत् कल्पतामिति' जिस अनुग्रह से भक्ति पूर्ण दोनों सेवकों का यह परदेश वास शीघ्र समाप्त हो, परदेश वास कहने का गुप्त भाव यह है कि इनको जन्म मरण से जो दुःख होता है वह इनको न होवे 'ममान्तिकइताम्' मेरे पास प्राप्त हो अर्थात् फिर आकर दास ही बने विशेष कारिकाओं से समझाते हैं ॥१२॥

कारीका—जीवानां तु त्रयो भावा उत्कर्षोत्कर्षहेतवः । जीवाः स्वभावतो दासा देहभावोऽधमस्ततः ॥१॥

कारिकार्थ—जीवों[1] के तीन भाव हैं जो क्रमशः उत्कर्ष के कारण है, जीव स्वभाव से प्रभु के दास[2] है इससे देह भाव अधम है ॥१॥

कारिका—ब्रह्मभावः स्वतः श्रेष्ठस्तत्स्वभाव इह स्थिताः ।
देहभावस्तु तच्छापः स्वभावोऽनुग्रहः स्मृतः ॥२॥

कारिकार्थ—ब्रह्मभाव दासभाव से स्वतः श्रेष्ट है यहां (वैकुण्ठ में) केवल स्वरूप से अपने स्वभाव (दासभाव) से वे रहते हैं देहभाव शाप से प्राप्त हुआ है स्वभाव भगवदनुग्रह से हुआ है ॥२॥

कारिका—सायुज्ये ब्रह्मभावः स्यान्नाऽन्यथेति विनिश्चयः ।
सायुज्ययोग्यताकाले ब्रह्मभावो निरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ - सायुज्यमुक्ति होने पर ही ब्रह्मभाव होता है यों निरूपण किया जाता है ॥३॥

कारिका–भगवानेव हि ब्रह्म नाऽन्यो भवितुमर्हति । एकं च ब्रह्म सर्वेषां तथात्वे तु विरुद्धचते ।४।

कारिकार्थ—भगवान् ही ब्रह्म है दूसरा ब्रह्म नहीं हो सकता है और ब्रह्म एक ही है। यदि सर्व ब्रह्म होवे तो 'एक ही ब्रह्म है' इसका शास्त्र से विरोध होगा ॥४॥

कारिका—भगवत्करणाल्लोके भावना दुर्बला मता ।
दासभावादतो नाऽन्यत्काम्यं भवति कस्यचित् ॥५॥

कारिकार्थ–वैकुण्ठ लोक में भगवत्त्व प्रकट है अन्यत्र जीव भगवत्संग न होने से उदासीन रहते हैं ऐसी दशा में ब्रह्म भावना हो (की जावे, तो दोष नहीं है, क्योंकि जीव कार्य नहीं करते हैं अतः भगवान्पन से तो विरुद्ध है कारण कि भगवान् काम करते हैं, तात्पर्य यह है कि भावना भले करे किन्तु ब्रह्म बन नहीं जाता है यदि बन जावे तो भगवान् एक है इसका विरोध हो जाएगा यह दोष है इत्यादि कारणों से भावना दासभाव से दुर्बल है अतः जगत् में दासभाव के सिवाय दूसरी कोई कामना कोई भी नहीं करता है ॥५॥

कारिका—अतो हि भगवान् भर्ता जीवानामिति निश्चयः ।
अभिप्रायस्तु तस्याऽपि ब्रह्मभावमभीप्सुभिः ॥६॥
ब्राह्मणेति क्रमो नैव कर्तव्य इति निश्चयः ।
अतो दण्डस्तु सोढव्यो नो चेदग्रे फल न तत् ७॥

---

[1] इन कारिकाओं से भगवान् अपने विचारे हुए आशय को कहते हैं, भगवान् ने सब समर्थ होकर भी मुनियों की प्रार्थना क्यों की ? ऐसी शङ्का कारिकाओं से मिटा देते हैं–'प्रकाश'

[2] क्योंकि भगवान् ने क्रीडा के लिये जीवों को उत्पन्न किया है इसलिये देह रहितजीव भाव उत्कर्ष का हेतु है, वह ही अनुग्रह है—'प्रकाश' ।

कारिकार्थ–इसलिए भगवान् ही जीवों का भरण करने वाले स्वामी हैं यों निश्चय है उसका (ब्रह्मभाव की चाहना वालों का) भी अभिप्राय यही है कि ब्राह्मणों का अतिक्रमण नहीं करना यों निश्चय है अतः दण्ड सहन करना चाहिए, नहीं तो भविष्य में वह फल (भगवान् के पास शीघ्र लौट कर फिर वही पद पाना) नहीं मिलेगा ।.६। ॥७॥

भगवान् ने यों कह कर मुनियों का दिया हुआ शाप पक्का किया ।

आभास—एवं भगवान् प्रसन्नो जात इति ज्ञात्वा गताधयो मुनयः सम्यक् स्त्रोतं कृतवन्त इति वक्तुम्, प्रथमं भगवद्वाक्येन तेषामाधिर्गत इत्याह–अथ तस्योशतीमितित्रिभिः–

आभासार्थ--इस तरह के वचनों से मुनियों ने जान लिया कि शाप देने से भगवान् प्रसन्न हुवे हैं अतः उनके अन्तकरण का दुःख एवं चिन्ता नष्ट हुए तब प्रसन्न चित्त हो अच्छे प्रकार से स्तुति करने लगे, यों कहने के लिए ब्रह्माजो पहले बताते हैं कि भगवद्वाक्यों से उनको (मुनियों की) अधि (भीतर की चिन्ता दुःख) मिटी–जिसका वर्णन 'अथतस्योशती' श्लोक से तीन श्लोकों में करते हैं–

श्लोक—**ब्रह्मोवाच । अथ तस्योशतीं देवीमृषिकुल्यां सरस्वतीम् ।**
नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषामात्माऽप्यतृप्यत ॥१३॥

श्लोकार्थ–ब्रह्मा ने कहा क्रोध रूप सर्प से डसे हुए मुनिओं का चित्त भगवान् की अमृतमयी ऋषिकुल योग्य और सुमधुर वाणी का स्वाद लेकर भी तृप्त नहीं हुआ।१३।

सुबोधिनी—भगवतो वाक्यं शब्दार्थभेदेन चिन्तानिवारकम् । तत्र शब्देनैव निःसन्दिग्ध चिन्ता निवारिता, अर्थस्तु भगवद्वाक्यानां सर्वतोमुखत्वादनिर्द्धारित इति स्वरूपतो निर्द्धारितोऽपि फलतो न निर्द्धार इति सम्यक् चिन्तां न दूरीकृतवान् । तथापि दृष्टसामग्र्या बलवत्त्वात् सर्वमेवाऽन्तःकरणं चिन्तावत्त्वेऽपि निर्मल जातमिति श्लोकत्रयम्, शब्दार्थसामग्रीभेदात् । प्रथमं शब्देन तेषां सुखं जातमित्याह–**अथेति** । भिन्नप्रक्रमोऽर्थपर्यालोचनाभावाय । **उशतीं** कमनीयाम्, अनेन तस्या दुःखदूरीकर्तृत्वं रूपमुक्तम् । युक्तयर्थं विशेषणान्तरमाह–**ऋषिकुल्यामिति** । ऋषिकुलयोग्याम् । ऋषयो हि मन्त्रद्रष्टारः, अलौकिकानुभावाश्च मन्त्राः, तत्र हितकर्त्री ततोऽप्यलौकिकानुभावा भवतीति स्वसामर्थ्याद्दुःखदूरीकर्तृत्वम् । किञ्च–**देवीमिति** । द्योतकत्वात् कान्त्यर्था भवति, काऽन्यथा हृदयप्रकाशिका भवति । अतोऽपि दुःखदूरीकरणम् । किञ्च–**सरस्वतीमिति** । सर

इत्युदकनाम । आधिदैविकीति तदुदकममृतं भवति । तेषां हृदयं मन्युना दष्टं मृतप्रायम् । तदमृतेन जीव्यते, कान्त्या प्रकाश्यते, अलौकिकभावेन कार्यसमर्थं क्रियते. परमानन्दश्च प्राप्यत इति चत्वारि विशेषणानि । एतादृशीं सरस्वतीमास्वाद्याऽपि, स्थितानामात्मा नाऽतृप्यत, अलमिति नोक्तवान् । यद्यर्थं श्रुतं स्यात्, तदाऽर्थः पूर्ण इति इच्छा पूर्येत । स्वरूपतः श्रवणे तु आनन्देऽलंबुद्ध्यभावान्न निवर्तते । सर्पदष्टो हि मन्त्रेण जलं पाय्यते, न च स तृप्यति, विषज्वालाभूयस्त्वात् । आत्मनोऽपि दंशे सर्वाङ्गे ज्वाला जातेति त एव दष्टा निरूपिताः ॥१३॥

व्याख्या—भगवान् के वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों चिन्ता मिटाने वाले हैं इनमें पहले शब्द द्वारा ही संशय दूर कर चिन्ता मिटा दी । अर्थ तो एक प्रकार का न होने से स्पष्ट निर्णायक नहीं होते है यद्यपि स्वरूप से निर्धारित होने पर भी फल से निर्णीत नहीं होता है । इसलिए अर्थ सम्यक् (ठीक) प्रकार से चिन्ता दूर नहीं करता है । अतः यद्यपि पूर्णतया चिन्ता दूर नहीं हुई तो भी प्रत्यक्ष देखे हुए साधन बलवान् होने से समग्र अन्तःकरण चिन्तायुक्त होते हुए भी निर्मल (शुद्ध) हो गया, यों शब्द और अर्थ की सामग्री पृथक् होने से तीन श्लोकों में कहते हैं, पहले शब्द से उनको सुख हुआ वह कहते हैं 'अथ' पद से यह सूचित किया है कि अब यह नवीन विषय आरम्भ करते हैं, क्योंकि अर्थ का पूर्ण विचार नहीं किया था, 'उशती' सुन्दर शब्द से बताया है कि इसका रूप दुःख दूर करने वाला है, युक्ति के लिए दूसरा विशेषण 'ऋषि कल्या' दिया है अर्थात् ऋषि कुल के योग्य है, मन्त्रद्रष्टाओं को 'ऋषि' कहते हैं, मन्त्र अलौकिक प्रभाव वाले हैं, उनका भी हित करने वाली उनसे भी अलौकिक प्रभावशाली होती है क्योंकि अपने सामर्थ्य से दुःख दूर करने की शक्ति वाली होने से, किञ्च 'देव' होने से देवी प्रकाश करने वाली है, जिससे कान्ति भी देने वाली है, यदि ऐसी न होवे तो हृदय में प्रकाश कौन करे ? इस कारण से भी दुःख मिटाने वाली है, वह 'सरस्वति' भी है । सर नाम जल का है, यह वाणी आधिदैविकी होने से वह जल अमृत रूप है, उनका हृदय क्रोध सर्प से दंशित (डसा हुआ) होने से मृतक समान था, वह अमृत से जीवित हो सकता है, कान्ति से प्रकाशित होता है, अलौकिक भाव से कार्य करने में समर्थ किया जाता है और परमानन्द प्राप्त कराया जाता है, इसलिए चार विशेषण दिये हैं इस प्रकार की सरस्वती (वाणी) का स्वाद लेकर भी उनकी आत्मा तृप्त न हुई, 'अलं' यह पर्याप्त है, जो अर्थ समझने के लिए श्रवण किया होता तो अर्थ पूर्ण होने से इच्छा पूर्ण होती स्वरूप से (वाणी का) श्रवण (दर्शन) करने पर आनन्द में अलबुद्धि के (पर्याप्त बुद्धि के) अभाव से लौटती नही, सर्प से दंशित (काटे हुवे) को मन्त्र पढ कर जल पिलाया जाता है जिससे उसकी प्यास नहीं मिटती है क्योंकि उसमें विष की आग ज्यादा होने से आत्मा को भी दंश लगाने से सर्वाङ्ग में ज्वाला हुई है, इसलिए वे दंशित (डसे हुवे कहे हैं ।।१३।।

आभास--एवं शब्दतः फलमुक्त्वा अर्थानुसन्धानेनाऽपि जज्जातं तदाह-

आभासार्थ--इसी तरह शब्द से फल कहकर अर्थ के अनुसन्धान करने से भी जो परिणाम निकला वह निम्न श्लोक में कहते हैं-

श्लोक—सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम् ।
विगाह्याऽगाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—भगवान् की सुन्दर वाणी, स्वल्प अक्षरों वाली गुरु अर्थ के कारण दुर्विज्ञेय (मुश्किल से समझ में आने वाली) और भाव गम्भीर थी, जिससे कान खोल कर भी अर्थात् ध्यान से श्रवण करने पर भी वे मुनि यह न समझ सके कि भगवान् का आशय क्या है ॥१४॥

सुबोधिनि—**सतीमिति** । सा हि सन्मार्गप्रतिपादिकाः अतः समुदायार्थपरिज्ञानेन सुखं जातमेव । **व्यादाय** श्रवणमपावृतकर्णरन्ध्रैः श्रवणम् । **लघ्वी** सा स्वरूपतः तेनाऽऽलोचयितुं शक्यत इति सुखदायिनी । एवं विशेषणद्वयेनाऽर्थद्वाराऽपि सुखदातृत्वं निरूपितम् । फलतः साधनतश्च न सुखदातृत्वं जातमित्याह-**गुर्वर्थगह्वरामगाधगम्भीरामिति** । अर्थो हि गम्भीरः, पुरुषोत्तमस्य भगवतो हीनानां सेवकजोवानां च विपरोतधर्मप्रतिपादकत्वात् । श्रुतपदार्थानां श्रुतार्थापत्त्या निर्णयं कृत्वा संदेहो दूरीकर्तव्य इति चेत्तत्राऽऽह-**अगाधगम्भीरामिति** । अगाधत्वान्न तत्र श्रुतार्थापत्तिः कल्प्यते । पदार्थानां तलस्पर्शे तत्कल्पना युक्ता । गम्भीरत्वाच्च मज्जनेनाऽपि तलस्पर्शो न संभवति । एतावता भगवान् किञ्चिद्गम्भीरमुक्तवानित्यध्यवसीयते । तथापि किमयमेवं वदतीति तच्चिकीर्षितं न विदुः । **विगाहनम**न्तःप्रवेशः । विचार्याऽपि न विदुरित्यर्थः ॥१४॥

व्याख्या--वह भगवान् की वाणी सत्यमार्ग को सिद्ध करने वाली है अतः शब्दों के भावार्थ को समझ लेने से सुख तो हुवा ही । कान खोल कर श्रवण किया, वाणी बहुत अल्प (सूक्ष्म) थी इसमे विचार करने में आ सकती, इसलिये सुख देने वाली कही थी, इसी प्रकार दो विशेषणों से अर्थ द्वारा भी वाणी सुख देने वाली है । विस्तृत अर्थ के कारण अगाध तथा गम्भीर होने से साधन और फल से फल देने वाली न हुई, अर्थ गम्भीर है, भगवान् पुरुषोत्तम और हीन सेवक जीवों के परस्पर विपरीत धम प्रतिपादन होने से उसका भावार्थ समझ में नहीं आता है, यदि कहो कि जो कुछ सुना है उससे जो अर्थ प्राप्त हो उससे निर्णय कर सन्देह दूर करना चाहिये, इस पर कहते हैं कि भगवान् के वचन अगाध होने से गम्भीर हैं जिसमे उसके तल का स्पर्श नहां हो सकता है जिससे आशय की कल्पना की जा सके, गम्भीर होने के कारण मज्जन करने पर भी तल स्पर्श नहीं होता है, एतावता भगवान् ने कुछ गम्भीर होकर कहा यों समझ में आता है, तो भी यह (भगवान्) यों

क्या कर रहे हैं इनके मन को इच्छा क्या है ? वह समझ में नहीं आती है विगाहनं का अर्थ है भीतर घुस जाना अर्थात् विचार करने पर वे नहीं जान सके ॥१४॥

आभास—एवं वाक्यं किञ्चिज्ज्ञात्वाऽपि भगवन्तं दृष्ट्वा मुदिताः सन्तः स्तोत्रं कृतवन्त इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह वाक्य का कुछ भाव जानकर भगवान् के भी दर्शन कर प्रसन्न होते हुवे स्तुति करने लगे यों इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—ते योगमाययाऽऽरब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम् ।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः कुपितत्वचः ॥१५॥

श्लोकार्थ—प्रसन्न हुए वे विप्र त्वचा के कुपित होने पर भी, योगमाया के प्रभाव द्वारा अपने परमैश्वर्य को प्रकट करने वाले प्रभु को हाथ जोड़ कर कहने लगे ॥१५॥

सुबोधिनी—त इति। योगमाया हि भगवद्वैभवयोग्यान्[1] पदार्थान् सृजति। न ते प्राकृताः, नाऽपि ब्रह्मसृष्टाः, अतः पारमेष्ठ्यापेक्षयापि महोदयरूपाः। योगमायया आरब्धाः पारमेष्ठ्यमहोदया यस्य। अतः सामग्री दृष्टा परमानन्दो बहुविधो भासत इति प्रहृष्टा जाताः। स्वयं विप्रा अपि, मनसाऽपि तादृशं नाकलितमिति, माहात्म्यज्ञानात् प्राञ्क्षलयः। दद्दर्शनेनाऽन्तःपूर्णानन्दो रोमकूपद्वारा निर्गच्छन् कुपितां त्वचं कृतवान्। सा हि वायुदेवताका, वायोश्च संचारो नास्तीति कोप उचित एव। क्षुभितेति पाठेऽपि समानोऽर्थः ॥१५॥

व्याख्या—योगमाया निश्चय से भगवान् के वैभव के योग्य पदार्थों की रचना करती हैं, वे पदार्थ न प्राकृत हैं और न कि ब्रह्मा के वनाये हुवे हैं इसलिये परम ऐश्वर्य की अपेक्षा से भी विशेष उत्तम है, योगमाया ने प्रारम्भ की हुई अधिक श्रेष्ठता के कारण भगवान् भी अधिक उत्तम देखने में आये। अतः इस प्रकार की श्रेष्ठतम सामग्री देखने से उनको परमानन्द नानाविध भासने लगा, इस कारण से प्रसन्न हुवे, (स्वयं) विप्र होने पर भी ऐसी वैभव श्रेष्ठता मन से भी नहीं विचार सके, जिससे भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान हुआ, मत हाथ जोड़ें भगवद्दर्शन से एवं प्रभु के वैभव के दर्शन से अन्तःकरण में जो पूर्ण आनन्द भर गया, वह रोम कूप द्वारा बाहर निकलते हुवे त्वचा को कुपित किया, जिसका कारण यह था कि इसकी देवता वायु है, आनन्द परिपूर्ण होने से वायु को रहने का स्थान न मिला जिससे बाहर निकलने लगी। अपने देवता को स्थान न मिले और उसको स्थान छोड़ना पड़े तो त्वचा को अवश्य क्रोध उत्पन्न होगा यों होना उचित ही था। 'क्षुभिता' पाठ हो तो उसका भी अर्थ (आशय) समान ही होता है ॥१५॥

आभास—विरोधं परिहरन्त एव स्तोत्रं कुर्वाणाः प्रथमं विरोधमनुवदन्ति

आभासार्थ—विरोध दूर करने के लिये ही स्तुति करने लगे अतः पहले मुनि विरोध कहते हैं–

श्लोक—मुनेय ऊचुः । न वयं भगवन्विद्मस्तव देव ! चिकीर्षितम् ।
कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे ॥१६॥

श्लोकार्थ—मुनियों ने कहा हे क्रीडाशील भगवान् ! आप सबके अध्यक्ष हो कर भी यों कहते हो कि 'यह आपने मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया', इन शब्दों के कहने से आपका कौनसा अभिप्राय है यह हम नहीं जान सके हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—न वयमिति । विरुद्धार्थप्रतिपादकत्वे सति न विरोधः, किन्तु मनसा तद्व्यवस्थाशक्तौ सत्याम् । मनो हि वाचो भर्ता, स चेत्प्रभुरविरोधं सम्पादयति, किं दासीनां विरोधेन । तदपि नास्तीति स्वानुभवेनाऽऽहुः-हे भगवन्, स एव तदनन्तरं देव ! तव चिकीर्षितं न विद्मः । ज्ञाने त्वभिप्रायः कल्प्येत । अकल्पनायां हेतुभूतं विरोधमाह-कृतो मेऽनुग्रह इति । यस्त्वमध्यक्षः सर्वसाक्षी प्रभुः, सेवकान् प्रति वदस्यनुग्रहः कृत इति तदर्थतो विरुद्धम् ॥१६॥

व्याख्या—विरूद्ध अर्थ जानने से विरोध नहीं होता है किन्तु मन से यदि उसकी व्यवस्था न हो सके तो विरोध होता है, क्योंकि मन ही वाणी का भर्ता (पति) है, यदि वह प्रभु विरोध नहीं करते हैं तो दासियों के विरोध करने से क्या ? किन्तु वह भी नहीं है यों अपने अनुभव से कहते हैं, हे भगवन् ! वह भगवान् हो फिर 'देव' हो जाते हैं अतः कहते हैं कि इससे आपको क्या करने की इच्छा है जिसको हम नहीं समझ सकते हैं। ज्ञान हो तो आपकी वाणी के अभिप्राय की कल्पना भी करें कल्पना नहीं करने में क्या कारण है वह हेतु पूर्वक कहते हैं—'कृतो मेऽनुग्रह' आप सर्व के अध्यक्ष अर्थात् सर्व साक्षी प्रभु हैं फिर सेवकों को कहते हैं कि 'मुझ पर अनुग्रह' किया, यों कहना अर्थ से विरूध है ॥१६॥

आभास—विरोधान्तरमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में दूसरा विरोध दिखाते (कहते) हैं—

श्लोक—ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो !
विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! आप ब्राह्मणों के हित करने वाले हैं, फिर भी कहते हैं कि ब्राह्मण मेरे आराध्य देव हैं वास्तव में तो ब्राह्मणों, देवों के देवताओं को भी आप ही आत्मा तथा उनके आराधनीय देव हैं ॥१७॥

सुबोधनो—ब्रह्मण्यस्येति । त्वं तु ब्रह्मण्यः, ब्राह्मणानां हितः, तेषां सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन तदुपास्यः । अथापि **ब्राह्मणाः किल ते परं देवमितो** प्रभाषसे । किलेति प्रसिद्धे । न हि तद्वाक्ये ब्राह्मणप्रभुत्वप्रतिपादके **'येषां बिभर्मि'** इत्यत्र सन्देहोऽस्ति । भागभेदेन तदुभयं संगच्छत इति पक्षं खण्डयति-**प्रभो** इति । सर्वसमर्थो भवान्न केनाऽप्यंशेन ब्राह्मणापेक्षायुक्त इत्यर्थः । किञ्च, त्रिप्राणाम्, देवानाम्, देवदेवानामपि भगवानात्मा दैवतं च । आवश्यक उपास्यश्च । आत्मनो वा दैवतम्, चिदंशानां भगवत्सेवकत्वात् ॥१७॥

व्याख्या—ब्रह्मण्य होने से तो आप उनका सर्वथा हित करने वाले हैं और उनके सकल पुरुषार्थ भी आप ही सिद्ध करते हैं अतः उनके उपास्य है, फिर भी 'ब्राह्मणाः किल ते परं देवमिति प्रभाष से' कहते हैं कि वे ब्राह्मण मेरे लिये निश्चय से परम देव हैं, अथवा 'किल' का भावार्थ है कि यह आपका कहना प्रसिद्ध है, 'येषां विभर्भि' इस ब्राह्मणप्रभुत्व प्रतिपादक वाक्य में कोई किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, यदि कहो कि भावभेद से ये दोनों बन सकते हैं तो इस पक्ष का खण्डन करते हैं । हे प्रभो ! इस सम्बोधन पद से कहा है कि आप सर्व प्रकार समर्थ है, अतः किसी भी अंश से आपको ब्राह्मणों की अपेक्षा नहीं हैं, किञ्च ब्राह्मणों के देवों का और देवों के देव ब्रह्मादि की भी (आप भगवान्) आत्मा और देव होने से अवश्य उपास्य हैं और चिदंश (जीव) तो सेवक हैं अतः उनके आप दैवता हैं ॥१७॥

आभास—नन्वस्मदुक्तप्रकारेणैव वेदो वदतीति तथैव शास्त्रार्थतोऽस्त्वित्याशङ्क्याऽऽहुः—

आभासार्थ—यदि कहो कि जैसे मैंने ब्राह्मणों के लिये कहा है वेद भी यों कहते हैं अतः शास्त्र के अर्थ के अनुसार यों ही होना चाहिये । ऐसो शङ्का हो, तदर्थ निम्न श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—**त्वन्नः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्त्वया ।**
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकल्पो भवान्मतः ॥१८॥

श्लोकार्थ—आप ही यज्ञ रूप होने से हमारे सनातन धर्म है, आप ही अवतार लेकर उसकी रक्षा करते हैं, धर्म का गोप्य परम रहस्य आप ही निर्विकल्प माने गये हैं ॥१८॥

सुबोधिनी—**त्वन्न इति** । त्वमेव नः सनातनो धर्मः, यज्ञरूपत्वात्, ब्रह्मरूपत्वाच्च । **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' 'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्'** इति । **त्वयैव तनुभिरवतारैः स्वधर्मो** रक्ष्यते, **'यदा यदा हि धर्मस्य'** इति वाक्यात् । किञ्च, त्वमेव धर्मस्य परमो गुह्यः । धर्मस्याऽत्यन्तं गोप्यस्त्वमेव । धर्मो ह्यन्यगतो धर्मिणं गोपायति; यथा जलगतमौष्ण्यं वह्निं गोपायति, तथा जीवेष्वागतो धर्मो ब्रह्म गोपायति । स हि तस्यैव, क्रियाशक्तिरूपत्वात् । तस्य गोप्यो हि भक्ति-

योगोऽपि भवति, तथापि भगवान् परमो गुह्यः । तस्य ब्रह्मैव गुह्यमिति कथं भगवानित्याशङ्क्याऽऽह–भवानेव निर्विकल्पो मत इति । 'पूर्ववद्वा' इति सिद्धान्तेन सर्वकल्पनाशून्यं ब्रह्म तदेव। पश्चात् धर्मरूपेणाऽऽविर्भूय तत्सहितं भगवानित्युच्यते । भगवतो वा एकं रूपं निर्विकल्पं ब्रह्म । उभयथाऽपि धर्मस्य परमो गुह्यः ॥१८॥

व्याख्या—आप ही हमारे सनातन धर्म हैं, क्योंकि आप ही यज्ञ रूप तथा ब्रह्मरूप हो, जैसा कि भगवती श्रुति कहती है कि, 'यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवाः' देवों ने यज्ञ द्वारा यज्ञ पुरुष (आपका) पूजन किया, 'अयंतु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्' योग से आत्मा का दर्शन करना यह उत्तम धर्म है, इत्यादि श्रुतियों से आप सनातन से हमारे धर्म हैं जब जब धर्म को ग्लानि होती है तब तब आप अवतार धारण कर उसकी रक्षा करते हैं, जैसा कि गीता में कहा है 'यदा यदा हि धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्' फिर आप तो धर्म के परम रहस्य रूप हैं, धर्म का अत्यन्त गोप्य स्वरूप आप ही हैं, यदि धर्म दूसरे पदार्थ में जाता है तो वहां धर्मी को छिपा लेता है । जैसे कि जल गत उष्णता वह्नि (अग्नि) को छिपा लेती है वैसे जीवों में आया हुआ जीवत्व धर्म ब्रह्म को छिपा लेता है, कारण कि वह धर्म उसका (ब्रह्मका) ही क्रियाशक्तिरूप है, उसको छिपाने के योग्य भक्ति योग भी है, त भी भगवान् परमगुह्य हैं, उसको ब्रह्म हो छिपाने योग्य हैं फिर भगवान् कैसे कहते हो ? इस शंका पर समाधान के लिए कहते हैं 'भवानेव निर्विकल्पो मत' कि आप ही निर्विकल्प (ब्रह्म) माने गये हैं । जैसा कि 'पूर्ववद्वा' इस ब्रह्म सूत्र में कहा है । सर्व कल्पना शून्य ब्रह्म है, वह ही बाद में धर्म रूप से प्रकट होते हैं । उस स्वरूप के साथ भगवान् कहलाते हैं, भगवान् का एक स्वरूप 'निर्विकल्प ब्रह्म' है । दोनों प्रकार से भी धर्म से परम गुह्य रखना है ॥१८॥

आभास—ज्ञानस्यांऽपि गुह्य इत्याह–

आभासार्थ—ज्ञान से भी आप गुह्य रखने योग्य हैं यों इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक–तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात् ।
योगिनः स भवान्किस्विदनुगृह्येत यत्परैः ॥१६॥

श्लोकार्थ–वैराग्य वाले योगीजन भी जिनके अनुग्रह से मृत्यु को सरलता से पार कर जाते हैं, ऐसे आपके ऊपर अन्य ऐसा कौन है जो अनुग्रह करे ॥१६

सुबोधिनी—तरन्तीति । निवृत्ताः परमहंसाः। यस्याऽनुग्रहं प्राप्य अञ्जसा मृत्युं तरन्ति । उभयतः कूलङ्कषा नदीव मृत्युः सर्वेषां मज्जनर्ता, अतस्तस्य तरणमुक्तम् । योगिन इत्यधिकारिविशेषणमनुग्रहे, न तु तरणे योगो हेतुः । एतादृशो भवान् सर्ववेदरहस्यः किमन्यैरनुगृह्येत ? तत्रापि परैरप्रयोजकैः । गृह्णीत इत्यपि पाठे परैः कृत्वा यत्कर्म, किं किमर्थम्, स्विदिति निश्चये, अनुगृह्णीत; किमर्थमनुगृह्णीयात् । अन्यैः स्वस्य माहात्म्यं

संपाद्य परानुग्रहं किमर्थं कुर्यादित्यर्थः। एतादृश्याऽनुग्रहवचनं बाधितार्थमिति प्रतिभाति। सत्यवाक्यत्वाच्च तदपि न संगच्छते; अतोऽज्ञानमेव ॥१९॥

व्याख्या—संसार से छूटे हुए अर्थात् वैराग्य वाले परमहंस जिनका अनुग्रह प्राप्त कर सरलता से मृत्यु को पार कर जाते हैं, दोनों तटों को तोड़ कर ग्रामों को डुबो देने वाली नदी के समान मृत्यु सबको डुबाने वाली है। उसको (मृत्यु को) भी पार करते हैं यों कहा है। कौन? कि योगी जन, क्योंकि ये अनुग्रह करने के अधिकारी हैं, तरने में योग कारण नहीं है। अपितु (बल्कि) आपका अनुग्रह ही कारण है। ऐसे आप जो वेदों के भी रहस्य रूप हो उनमें 'पर' अर्थात् उनमे श्रेष्ठ दूसरा कौन ऐसा हैं, जो कृपा करें, और वे भी असमर्थ हैं अतः कैसे अनुग्रह करेंगे। फिर आप उनका अनुग्रह कैसे स्वीकार कर सकेंगे?

यदि गृह्णीत' पाठ हो तो, दूसरों के लिए जो कर्म है उसका आप क्यों निश्चय से स्वीकार करें, दूसरों से अपना माहात्म्य संपादन कर दूसरों पर अनुग्रह किसलिए करना चाहिये, यों अर्थ है, ऐसे के अनुग्रह वचन बाधित अर्थ वाला अर्थात् असत्य भासता है, भगवान् तो सत्यवादी हैं अतः वह भी बन नहीं सकता है जिससे हमारा अज्ञान ही है, अर्थात् आप क्या करना चाहते हैं वह हम नहीं समझते हैं ॥१९॥

आभास—किञ्च, ब्राह्मणकृपया लक्ष्मीः स्थिरेति वचनं सर्वथा बाधितार्थमिति प्रतिभातीत्याह—

आभासार्थ-ब्राह्मणों की कृपा से ही लक्ष्मी हमारे यहां स्थिर रही हैं यह भी सर्वथा असत् है यों भासता है, जिसका वर्णन निम्न श्लोकों में करते हैं-

श्लोक—यं वै विभूतिरुपयात्यनुवेलमन्यैरर्थार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः।
धन्यार्पिताङ्घ्रितुलसीनवदामधाम्नो लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना ॥२०॥

श्लोकार्थ—अर्थ की कामना वाले जिसकी चरण रज को सदैव अपने मस्तक पर धारण करते हैं वह लक्ष्मीजी आपकी सेवा परायण है, फिर भी भक्तजन आपके चरणों पर जो तुलसी की मालाएं अर्पण करते हैं उन पर भौरों का गुंजार देखकर चाहती है कि मैं भी पादपद्मों को अपना निवास स्थान बनाके उनका रसपान करूं।२०।

श्लोक—यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां नाऽत्याद्रियत्परमभागवतप्रसङ्गः।
स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजः पुनीतः श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम् ॥२१॥

श्लोकार्थ – परन्तु पवित्र चरित्रों से सदैव सेवा करने वाली उस लक्ष्मी का आप विशेष आदर नहीं करते हो, आप तो भक्तों से ही प्रेम करना चाहते हैं जो आप स्वतः पवित्र एवं स्वयं सम्पूर्ण सद्गुणों के आश्रय हैं ऐसे आपको जहां तहां फिरने वाले ब्राह्मणों के चरणों के स्पर्श होने से पवित्र हुई धूलि तथा श्री वत्स का चिन्ह आपको कैसे पवित्र कर सकते हैं, क्या इनसे आपकी शोभा बढ़ सकती है ? ।।२१।।

सुबोधिनी—यं वै विभूतिरिति । विभूतिर्लक्ष्मी । यं भगवन्तमनुवेलमन्यैरर्थार्थिभिः शिरसा धृतपादरेणुरप्युपयाति सेवार्थं गच्छति । तत्रापि भक्तेव । तां च भवान् नात्याद्रियत्, स कथं द्विजानुपथपुण्यरजसा पुनीतः सन् श्रीवत्सलक्ष्म अगा इति श्लोकद्वयान्वयः । विप्रसादात् लक्ष्म्याः स्थैर्यमिति पक्षो न संगच्छते, भक्त्यैव तस्याः स्थिरत्वात् । न च तस्या भक्तिर्ब्राह्मणसाध्या, भक्तौ ब्राह्मणानामपि भक्तत्वेनैवोपयोगात् । ब्रह्मभावानन्तरं भक्त्यधिकारात् ब्रह्मभावप्रापणार्थं तदपेक्षेति चेत्, तस्याः सिद्ध एव ब्रह्मभावः, 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' इति वाक्यात्, ब्रह्मानन्दरूपत्वाच्च तच्छरीरस्य । अतः साक्षात्परम्परया वा तस्या भक्तौ ब्राह्मणानामनुपयोगात्, भक्त्यैव च स्थैर्याद्भगवद्वाक्यं चिन्त्यम् । किञ्च, ब्राह्मणा भिक्षुका अर्थार्थिनामिन्द्रादीनामुपसर्पकाः ते च लक्ष्म्याश्चरणरेणूपासकाः । अत उपजीव्योपजीव्यत्वात् तस्याः कथं ब्राह्मणाधीनत्वम् ? किञ्च, सा हि भोग्यभावमेव त्यक्तवती, तेन तस्याः फलत्वमेव नाऽस्ति । सा हि रसान्तरे प्रविष्टा, न हि भक्तिरसे कामरसः प्रविशति भगवानपि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति वाक्यात् भक्तत्वेनैव तां स्वीकरोति, यथा तुलसीम् । अतस्तस्या गुणा अपि नाऽपेक्ष्यन्ते । सा हि तुलसीमपि निर्गुणां बहु मन्यते, ततोऽपि हीनभावं च । भ्रमरा नानापुष्परसेष्वासक्ताः, तेऽपि यदि भक्तिमाहात्म्यात् तुलसीरस एव मकरन्दाभासेऽप्यासक्ताः, तदा मयाऽपि तथैव विधेयमिति भ्रमरलोकमेव कामयते । एवमपि सति लब्धपदा सा पुनः स्वभावं प्राप्स्यतीति भक्तत्वेऽपि तां नाऽत्याद्रियत् । तदपेक्षयाऽपि स्वभावत एव निर्दुष्टा भगवति लब्धपदा अपि हेत्वभावान्न पूर्वावस्थां प्राप्नुवन्ति, ते परमभागवताः, तेष्वेव प्रकृष्टः सङ्गः । एतादृशलक्ष्म्याः कथमसाधारणधर्मत्वम् ? तत्रापि भवान् भगवच्छब्दार्थः । नित्या एव भगवति षड् गुणाः ब्राह्मणानुग्रहजन्यत्वे कृत्रिमता स्यात् । व्यामोहनलीलापरत्वेन तु अलौकिकप्रकारेण वयं न व्यामोहनीयाः, साधारणेन तु विशेषज्ञानस्य जातत्वान्न व्यामोहो भविष्यतीति तात्पर्यम् । विशेषेण भूतिर्यस्या इति भगवद्भजने भगवदुपयोगिनी सर्वसामग्री निरूपिता । तस्याः समीपगमनमेव, न तु भोगपर्यवसानमित्युपेत्युक्तम्, अन्यैरिति भगवद्विमुखैः । भगवद्वैमुख्ये हेतु–**अर्थार्थिभिरिति** । धनाभिनिविष्टचित्ता न भगवत्संमुखा भवन्ति । बाला एव ते स्तनपानव्यग्रा मातरमेव मन्यते । स्वशिरसा धृतपादरेणुरिति भक्त्यैवाऽन्येषां प्रवृत्तिः, तेषां चेयमुपास्या देवता । तस्या अपि चरणरेणवस्तदीयशरीसंपादकाः । शिरसा स्था-

पनं तेषामेव प्रथमसंबन्धार्थम्। तुलस्या अलौकिकत्वे तल्लोकाकाङ्क्षित्वं न भक्तिहेतुकमिति धन्यार्पितेत्युक्तम्। कृत्रिममात्रत्वे भगवत्संबन्धो न सम्भवतीति धन्येति। धनमर्हन्तीति, धन्याः। लक्ष्म्या आधिभौतिकं रूपमर्हन्तीति भगवम्द्गानि। सेवका धन्याः, अन्ये धनिनोऽपि न धनमर्हन्ति, श्वान इव गङ्गाजलम्। अत एव न तस्य धनस्य भगवदुपयोगः। धनस्य स्वोपयोगात् तदधिका तुलसी तैर्भगवति समर्प्यते। अङ्घ्रौ समर्पणं भक्तिहेतुकम्। तुलस्या नवदाम चरणे समर्प्यते अन्यथा बहुतुलसीदाने चरण आच्छन्नः स्यात्। तद्भगवच्चरणारविन्द एव तिष्ठति, भक्तप्रसादे वा तत्कण्ठेषु। उभयथाऽपि नैतादृशं स्थानमन्यदस्तीति तद्धाम भ्रमरस्य। तथात्वे हेतुमाह–मधुव्रतपतेरिति। मध्वेव व्रतं यस्य। नियमाद्धर्म इति पक्षे मधुव्रतेऽपि धर्मः मधुव्रतानां पतिरिति व्रतिनामिव तत्संबन्धित्वेन कृतार्थः परम्परयाऽपीति सूचितम्। इवेति ब्रह्मानन्दस्य हीनभावव्यावृत्यर्थमुपपा निरूपिता। कामयानेवेति वा, कामितोऽर्थः श्रद्धायुक्तों भवतीति। एवमपि भजने भगवतश्चेत्तत्फलं भवेत्तदापि ब्राह्मणवाक्यस्य हेतुत्वं कल्प्येताऽपि, तदपि नास्तीत्याह। यस्तामिति। यः प्रसिद्धो लक्ष्म्याः प्रसादत्वं वदति, सोऽपि वदत्येव, न तु तां मन्यते, यतस्ता नाऽऽद्रियत्। तत्र हेतुः–परमभागवतेषु प्रकृष्टः सङ्गो यस्येति। ते हि परमा असाधारणाः, लक्ष्मीसहितं नोपासते. अंशेन सेवाया व्यभिचारात्। अतस्तदनुरोधेनाऽपि न लक्ष्म्या सह रमणम्। एतादृशस्त्वं द्विजानामनुपथं यत्पुण्यरजः। भगवतो द्विजानुगमनमेव न सम्भवति, ईश्वरत्वात्। ते हि पादचारिणोऽर्थ्यनुवर्तकाश्च। दूरे तद्रजसः पुण्यत्वम्, मार्गरजसोऽपवित्रत्वात्। तेन च पावित्र्यं ततोऽपि दूरे। श्रीवत्सरूपं लक्ष्म चिह्नं किमर्थं त्वमगाः प्राप्तवानसि ? यतस्त्वं भगभाजनः सहजश्र्यादिधर्मंयुक्तः ॥२०॥ ॥२१॥

व्याख्या—जिस लक्ष्मी की पादरेणु अर्थार्थी अपने शिर पर चढ़ाते हैं वह लक्ष्मी जिस भगवान् की सेवा के लिए समयानुसार भक्त की तरह स्वयं आती है उसका तो आप विशेष आदर भी नहीं करते हैं, ऐसे वे आप द्विजों के चरणों से पवित्र हुई मार्ग को जो रज, उससे पवित्र होकर कैसे श्रीवत्स का चिन्ह धारण कर सकते हो, अतः ब्राह्मणों की कृपा से ही चञ्चला लक्ष्मी मेरे पास स्थिर रही है, आपका यह पक्ष भी नहीं बनता है। वह तो आप में उसकी भक्ति है इसलिए स्थिर रही है। उसकी आप मे भक्ति ब्राह्मणों से सिद्ध नहीं हुई है, भक्ति मार्ग में ब्राह्मण भी भक्तपन से ही उपयोग में लिये गये है। ब्रह्म भाव के अनन्तर ही भक्ति का अधिकार होने से ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिए अपेक्षा है। यदि यों कहे तो उसका (लक्ष्मी जी का) ब्रह्म भाव सिद्ध हुआ ही है, जैसा कि कहा है 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' लक्ष्मी जी का शरीर ब्रह्मानन्द रूप है, अतः साक्षात् व परम्परा से उसकी भक्ति में ब्राह्मणों का उपयोग नहीं है, भक्ति के कारण ही आपके पास स्थिर रही है इससे भगवद्वाक्य विचार करने के योग्य है, और विशेष-ब्राह्मण भिखारी है, अर्थ चाहने वाले इन्द्रादिके पास माँगने जाते हैं। इन्द्रादिक तो लक्ष्मी चरणों की रेणु के उपासक हैं, अतः ब्राह्मणों का निर्वाह जो इन्द्रादिक करते हैं उनका भी निर्वाह करने वाली लक्ष्मी उनके (ब्राह्मणों के) अधीन कैसे होगी ? किञ्च भोग्य भाव ही उसने छाड़ दिया है जिससे वह फल रूप नहीं रही है, वह तो दूसरे रस (भक्ति रस) में प्रविष्ट हो गयी है, भक्तिरस

से काम रस में प्रवेश नहीं कर सकता है, भगवान् ने भी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस वाक्य को 'जो जैसे मुझे भजते हैं उनको मैं भी उसी तरह भजता हूँ' चरितार्थ करने के लिए लक्ष्मी जी को भक्तपन से ग्रहण किया है, जैसे तुलसी को, अतः उसके गुणों की भी अपेक्षा नहीं है वह भी निर्गुण तुलसी का बहुत आदर करती है अपने को उससे हीन समझती है। भौंरे अनेक प्रकार के पुष्पों के रस के ग्राहक एवं उससे आसक्त होते हैं तो भी भक्ति के माहात्म्य के कारण सुगन्धित रस रहित तुलसी के रस में आसक्त हुवे हैं तो मुझे भी यों ही करना चाहिए इसलिए भ्रमरों के स्थान को ही प्राप्त करना चाहती है, यों होने पर भी उस स्थान को प्राप्त करके भी वह फिर अपने ही पद को प्राप्त कर लेगी अतः भक्त होने पर भी उसका अधिक आदर नहीं करते हो।

स्वभाव से निर्दोष भगवान् के पास स्थान प्राप्त करने में कोई अन्य हेतु नहीं है तो भी उस स्थान को त्याग कर पूर्व अवस्था को ग्रहण नहीं करते हैं अतः वे परम भगवदीय हैं, इसलिए ही लक्ष्मी से विशेष प्रेम (संग) आप उनसे करते हैं, अर्थात् भगवान भौंरों से विशेष प्रेम करते है क्यों कि लक्ष्मी से ये अधिक भगवदीय हैं जो मेरे चरणों में ही आसक्त और व्यसन वाले है उनको छोड़ते नहीं ऐसे लक्ष्मी में असाधारण गुण कैसे हों? उसमें भी आप तो भगवान् शब्द का जो अर्थ उसके रूप ही हो, आप में नित्य ही षड्गुण (ऐश्वर्यादि) विराजते हैं, यदि ये गुण ब्राह्मणों के अनुग्रह से आप में आये हों तो वे कृत्रिम हो जाय। यदि व्यामोह क्रीड़ा (मोहित) करने के लिए कहते हैं तो अलौकिक प्रकार से ही हमको मोहित नहीं करना चाहिए, साधारण रीति से तो हमको मोह नहीं होगा क्योंकि हमको विशेष ज्ञान हो गया है। कहने का यही तात्पर्य है, 'विभूति' विशेषण भूतिः यस्या इति 'विभूति' भगवान् के भजन में जिस सामग्री की उपयोगिता है वह सर्व सामग्री इस पद से कह दी हैं, उपयाति पद में 'उप' शब्द के प्रयोग का यह आशय है कि, उनके (भगवान् के) समीप ही यह सामग्री पहुँचती है, न कि भोग करती है, अन्यैः दूसरे पद से भगवद्विमुख कहा है, वे भगवद्विमुख क्यों हुवे हैं इस पर कहते हैं कि अर्थ चाहने वाले हैं, जिनका चित्त धन में ही आसक्त है वे भगवत्सम्मुख नहीं होते हैं उनसे विमुख ही रहते हैं जैसे अज्ञ (छोटे) बालक को दूध न मिलने से व्याकुल होते हैं माता के सिवाय किसी को नहीं चाहते हैं वैसे ही धनार्थी लक्ष्मी को ही चाहते हैं उनको उपास्य देवता लक्ष्मी ही है, 'स्वशिरसाधृतपाद रेणुम्' प्रथम सम्बन्ध के लिए ही पहले अपने मस्तक के उपर जिसकी चरणरज धारण की है, इस पद से यह बताया है कि जो लक्ष्मी के उत्सुक हैं वे लक्ष्मी को चाहते हैं क्योंकि उसकी चरण रज से ही उनके शरीर बने हुए हैं। जिसके लिए ही भगवान् को भी चाहते है, शेष अन्य तो भगवान् की भक्ति के लिए ही भजते हैं एवं चाहते हैं।

यदि तुलसी अलौकिक होती तो उसके स्थान की प्राप्ति की इच्छा भक्ति उत्पन्न करने वाली न हो, इसलिए अर्थात् वह अलौकिक नहीं है किन्तु भाग्यवान् पुरुषों ने चरणों में अर्पण कर अपनी भक्ति प्रकट की है अतः भक्ति को उत्पन्न करने वाली है यदि केवल कृत्रिम हो तो उसको भगवत्सं-

बंन्ध न होता। किन्तु 'धन्य' पद से अर्पण करने वाले 'भक्त' हैं यों सूचित किया है।

जो लोग लक्ष्मी के आधिभौतिक स्वरूप धन को प्राप्त करने के योग्य हैं ऐसे भगवान् के प्राणी (सेवक) धन्य हैं, दूसरे धनी होते हुए भी धन प्राप्ति के योग्य नहीं है जैसे कुत्ते गङ्गा जल के योग्य नहीं हैं, इसी कारण से ऐसे धनियों का धन भगवान् के उपयोग में नहीं आता है। धन तो अपने उपयोग में लाते हैं उससे अधिक तुलसी है अतः वे, वह तुलसी भगवान् के चरणों में समर्पण करते हैं चरणों मे समर्पण भक्ति के हेतु वाला है। भगवान् के चरणों में तुलसी की नवीन माला बना के अर्पण करते हैं माला बना के अर्पण न करे तो बहुत तुलसी से भगवान् के चरण आच्छन्न हो जावे। वह (माला) तो भगवच्चरणारविन्द में ही विराजमान रहती है अथवा भक्तों पर कृपा होने पर उनके कण्ठों में पहनाई जाती है, दोनों प्रकार से ऐसा स्थान दूसरा कोई नहीं है, वह भौंरों का स्थान होता है, यों होने में हेतु कहते हैं 'मधुव्रतपतेः' मधु (शहद) ही जिनका व्रत है वे मधुव्रत कहे जाते हैं, अपने नियम के पालन से धर्म होता है, इस पक्ष में मधुव्रती होने पर भी धर्म है, मधुव्रतियों का पति, यों उनके संबन्धी होने से ब्रत पालन करने वालों के समान परम्परा से कृतार्थ हुवे हैं यों सूचित किया है, 'इम' पद से ब्रह्मानन्द का हीन भाव मिटाने के लिये उपमा दी है, अथवा इच्छित अर्थ श्रद्धा वाला होने से भक्ति कामना वाली है इस तरह भी भजन में भगवान् को वह फल प्राप्त होता हो तो भी ब्राह्मणों के वाक्य को इसमें हेतु कल्पा (माना) जावे, वह भी नहीं हैं। इसलिये कहते हैं 'यस्तामिति' इस श्लोक से जो प्रसिद्ध रीति से कहते हैं कि 'लक्ष्मी' ब्राह्मणों के प्रसाद से प्राप्त हुई है वह भी केवल कहना ही है उसको मानते तो नहीं, अर्थात् लक्ष्मो ब्राह्मण प्रसाद से प्राप्त हुई मान कर उसका आदर करे वह (आदर) तो करते नहीं, उसमें कारण यह है कि परम भगवदियों में विशेष प्रकार से सङ्ग है वे भगवदीय परम (उत्तम) हैं और असाधारण हैं अतः लक्ष्मी सहित भगवद् अंश के साथ सेवा करना व्यभिचार वाली सेवा है। अतः उन भक्तों के अनुरोध से भी लक्ष्मी से रमण नहीं करते हैं, ऐसे आप ब्राह्मणों की चरण रज से पवित्र होते हैं यह कहना बन नहीं सकता है क्योंकि आप ईश्वर होने से ब्राह्मणों के पीछे पीछे चलें यह अनुचित है वे ब्राह्मण पैरों से चलने वाले अर्थ चाहने वाले देवों के अनुयायी हैं उनको चरण से छुई हुई रज का पवित्र होना दूर है फिर विशेष वह मार्ग की रज होने से स्वतः अपवित्र होने से, आपको पवित्र करे यह तो उससे भी दूर है, श्री वत्स का चिन्ह आप क्यों धारण करें जब कि आप षड्ऐश्वर्यादि भगों के भाजन (पात्र) हैं अर्थात् आप तो सहज श्री आदि धर्मों से सहज युक्त हैं ॥२०-२१॥

आभास—एवं विरोधमुक्तवा तस्य तात्पर्यं कल्पयन्तो धर्मरक्षार्थं वचनमिति धर्मो। कल्पयितुम्, धर्मौ भगवता सर्वथारक्षित इति धर्मरक्षां हेतुत्वार्थमाह–

आभासार्थ—इस तरह विरोध कहकर, उसके तात्पर्य की कल्पना करते हुए बताया है कि ये वचन धर्म की रक्षा के वास्ते कहे है क्योंकि धर्म की रक्षा भगवान् ने सर्वथा की है जिसकी रक्षा का कारण इस श्लोक में कहते हैं--

श्लोक-धर्मस्य ते भगवतस्त्रियुग ! त्रिभिः स्वैः पद्भिश्चराचरमिदं द्विजदेवतार्थम् ।
नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च सत्त्वेना नो वरदया तनुवा निरस्य ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे त्रियुग ! सत्वगुण को नष्ट करने वाले रजो गुण और तमो गुण को हमारे कल्याणकारी सतोगुण रूप तनु से दबाकर धर्म रूप आप भगवान् अपने तीन चरणों से इस स्थावर जंगम रूप जगत् को ब्राह्मण तथा देवों के लिये निश्चय रक्षा करते हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—धर्मस्येति । **हे त्रियुग !** युगत्रय एव भगवदाविर्भावः, न कलौ । अत एव कलौ धर्मोऽपि नास्ति, रक्षकाभावात् । युगत्रय एव भगवदाविर्भावे तत्रैय रक्षायां च हेतुमाह-**त्रिभिः स्वैः पद्भिरिति** । भगवांस्त्रिपात्, यज्ञस्य सवनत्रयात्मकत्वात् । **स्वैरसाधारणैः** । अतो द्विपाच्चतुष्पाच्च लोकसिद्ध इति इति तद्वैलक्षण्यं न दोषाय । **पद्भिरिति** वा द्वित्वसङ्ख्या तेन षड्गुणेषु द्वाभ्यां द्वाभ्यामेकैकस्मिन् युगे धर्मरक्षा । ज्ञान-वैराग्याभ्यां सत्ये, यशः श्रीभ्याँ त्रेतायाम् ऐश्वर्यवीर्याभ्यां द्वापर इति कलौ न कोऽप्यवशिष्यते धर्मो धर्मरक्षकः । किञ्च, सत्त्वेन पाल्यते धर्मः । केवलसत्त्वस्य प्रवृत्तिः सत्ये, रजसा सहितस्य त्रेतायाम्, सत्त्वसंबन्धयोग्येन रजसा तमसा च द्वापरे धर्मरक्षा । कलौ तु सत्त्वस्य तत्संबन्धिनश्चाऽभावान्न रक्षा । जगदपि भगवता धर्मार्थमेव रक्षितमित्याह-**चराचरमिदमिति** । यद्यपि धर्मोऽपि भगवान्, जगदपि; **तथापि धर्मार्थमेव** जगत् पाल्यते । तदाह-**द्विजानां देवानां चाऽर्थे इदं** जगत् **नूनं भृतमिति** । ननु स्वरूपेणैवाऽत्र धरणम्, किं सत्त्वेन गुणैर्वेत्याशङ्क्याऽऽह-**तस्य** जगताऽ**भिघाति** नाशकं **रजश्च तमश्च** । विक्षेपेण मारयति रजः; आवरणेन तु तमः । उभयथाऽपि जगद्धर्मार्थं न भवति, अतो **रजस्तमश्च सत्त्वेन निरस्य नूनं भृतमिति** संबन्धः । सत्त्वस्योभयनिराकरणे सामर्थ्यमाह-**नो वरदया तनुवेति** । ब्रह्मादीनां वेदानामूर्ध्वंगतिदातृत्वात् वरदत्वम्, अन्यदपोष्टं प्रयच्छतीति च । तदेव सत्त्व तनुरूपं जातम् । तनोतीति तनुः । अतोऽनन्तस्वरूपजननसामर्थ्यात् तयोर्निरसनसामर्थ्यम् । अतस्त्वं धमरूपो देवब्राह्मणेषु प्रतिष्ठित इति ब्राह्मणोत्कर्षस्तद्रक्षापरनामेत्यन्तः प्रीतिहेतुत्वात् तथोच्यत इति भावः ॥२२॥

व्याख्या—हे त्रियुग ! तीन युगों में ही प्रकट होने वाले सत्युग, त्रेता और द्वापर युग में ही भगवदाविर्भाव होता है कलियुग में नहीं, अतएव (इस कारण से ही) कलियुग में धर्म भी नहीं है क्योंकि उसका कोई रक्षक भी नहीं है, तीन युगों में ही भगवान् के प्राकट्य में और उनमें ही रक्षा के हेतु बताते हैं । 'त्रिभिः स्वैः पद्भिः' अपने तीन पादों से रक्षा करते हैं क्योंकि भगवान् त्रिपात् हैं कारण कि 'यज्ञस्य सवनत्रयात्मकत्वात्' यज्ञ तीन सवनरूप हैं अर्थात् सोम यज्ञ में 'सवन' (सोमरस) निकालने के तीन समय हैं, भगवान् (के) अपने असाधारण इन तीन चरणों से, अतः भगवान् द्विपात्

(दो पैर वाले) और चतुष्पात् (चार पैर वाले) भी लोक में प्रसिद्ध हैं इस प्रकार की विलक्षणता भगवान् में दोष वालो नहीं है। 'पद्भिः' पद कहने से एक एक में दो दो की संख्या समझनी चाहिये, इससे भगवान् में जो ऐश्वर्यादि छ गुण हैं उनमें से एक एक युग में दो दो गुणों से धर्म रक्षा करते हैं जैसे कि सत्युग में ज्ञान और वैराग्य गुणों से धर्म को रक्षा करते हैं, त्रेता युग में यश और श्री गुणों से तथा द्वापर में ऐश्वर्य और वीर्य से धर्म की रक्षा करते है, इसलिये कलियुग में कोई धर्म (गुण) शेष नहीं रहता है जो धर्म रक्षक बने किञ्च सत्वगुण से धर्म की पालना होती है। इसलिये सत्युग में केवल सत्व की प्रवृत्ति थी, त्रेता में रजो गुण सम्मिलित सत्व की प्रवृत्ति थी, जिससे धर्म रक्षा होती थी, कलियुग में तो न सतोगुण है और न उससे सम्बन्ध रखने वाला कोई गुण है अतः इसमें धर्म रक्षा हो नहीं सकनी है। जगत् भी भगवान् ने धर्म के लिये ही रखा है, 'चराचर-मिदमिति' यद्यपि धर्म और जगत् भगवान् ही हैं तो भी धर्म के लिये ही जगत् की पालना की जाती है, उसको कहते हैं कि, ब्राह्मण तथा देवों के लिये ही निश्चय जगत् धारण (पालन) किया है। इस जगत् का धारण स्वरूप से किया जाता है फिर सत्व से व गुणों से क्या ? इस प्रकार की शङ्का पर कहते हैं कि 'तस्य जगतोऽभिधाति (नाशकं) रजश्च तमश्च' जगत् को नाश करने वाले रजोगुण और तमोगुण हैं, रजोगुण विक्षेप (लड़ाई, दंगे, लूटमार) कराके नाश कराता है और तम, आवरण से (बुद्धि का नाश कर) जगत् का नाश करता है, दोनों तरह से जगत् धर्मार्थ नहीं रह सकता है इस लिये आपने सत्व से रज और तम को दबाकर जगत् धारण किया है सत्वगुण में दोनों (रज और तम) को दबाने की शक्ति है, 'नो वरदया तत्वा' ब्रह्मादि देव (और वेद) ऊर्ध्वगति कराने वाले हैं और वर देने वाले हैं, वह भी सत्व तनुरूप हुआ है, 'तनु' शब्द से यह आशय है कि विस्तार करने वाला अतः अनन्त देह उत्पन्न करने की शक्तिवान् होने से सत्व रजो और तमो को खाने की शक्ति वाला है। इसलिये धर्म रूप आप, देव एवं ब्राह्मणों में विराजमान हो अतः उनका उत्कर्ष है, आपके द्वारा ही रक्षा होती है कारण कि उनके लिये आपके अन्तःकरण में प्रेम है, इसलिये आपने यों कहा है ॥२२॥

आभास—विपरिते बाधकमाह—

आभासार्थ—यदि विपरीत हो अर्थात् भगवान् रक्षक न बने तो उससे जो धर्म हानि होगी वह इस श्लोक में बताते हैं—

श्लोक—न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदिहाऽऽत्मगोपं गोप्ता वृष ! स्वर्हणेन ससूनृतेन ।
तर्ह्येव नङ्क्ष्यति शिवस्तव वेदपन्था लोकोऽग्रहोष्यदृषभस्य हि तत्प्रमाणम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—हे वृष ! जो द्विजों का उत्तम कुल, आत्मा का रक्षण कर रहा है उसकी आप सुमधुर वाणी और पूजनादि से रक्षा नहीं करो तो आपका स्थिर किया हुआ यह वेद मार्ग उच्छिन्न हो जाय, क्योंकि लोक तो स्वामी के कृत्य को ही प्रमाण रूप मानते हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—न त्वमिति। यदि त्वं द्विजोत्तमकुलं न गोप्ता, तर्ह्येव तव शिवो वेदपन्था नङ्क्ष्यति। तत्र हेतुः–**लोकोऽग्रहीष्यदिति** । ऋषभस्य प्रभोर्यत् प्रमाणम्, तल्लोकोऽग्रहीष्यत् । द्विजोत्तमानाँ धर्मज्ञानसहितानां कुलं समूहः । यद्यस्मात् कारणात् । यद्वा, कुलमात्मगोपम्, आत्मानं स्वात्मानं वा भवन्तं गोपायतीति । आत्मा स्थितश्चेत् स्वमार्गे गच्छेत्, अत आत्मा प्रथमतो रक्षणीयः । तदनन्तरं स्वमार्गरक्षा । स्वात्मानं प्रति ये समायान्ति येन मार्गेण, स स्वमार्गः । तत्रापि भक्तानामागमनप्रतिबन्धकनिवृत्तिरेव रक्षा । ते चेद्भगवद्रक्षका भवेयुर्धर्मज्ञानयुक्ताश्च भक्तिमार्गप्रवर्तकाः, तदा ते रक्षणीया इत्यर्थः । तेषां रक्षा त्रिविधा; स्वरूपतः, संतोषजननेनाऽन्तः, प्रतिष्ठाजननेन च बहिः। तत्र स्वरूपतो रक्षाऽवतारैः क्रियत एव । अथाऽवशिष्यतेऽन्तर्बहिश्च । तदाह–**स्वर्हणेन ससूनृतेनेति** । सुष्ठु अर्हण पूजा कायिकी तेन बहीरक्षा तेषां प्रयोजनसाधिका, अन्यथा लोकसंमानवाभावे भगवन्मार्गोपदेशो न स्यात् । सूनृतेन चाऽन्तः परिसंतोषोऽनेनोक्तः । एतस्य सहभावोऽन्तस्तोषस्य भगवत्कार्यहेतुत्वाय । अतो मार्गप्रवर्तकरक्षाभावे मार्गो **नश्येदेव । तर्ह्येवेति** पाषण्डप्रवृत्तेः सुगमत्वात् । न च बहूनां मार्गाणां विद्यमानत्वात् किं वेदमार्गेणेत्यत आह–**शिव इति** । अन्ये यादृच्छिकाः, कस्यचिदेव दुःखेनाऽपि फलसाधकाः, वेदमार्गस्तु शिवः कल्याणरूपः । ननु ब्राह्मणानां सन्मानाभावे कथं वेदो न रक्षितः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह-**लोकोऽग्रहीष्यदिति**। लोकस्तु स्वामी भगवान् यं तमेव मन्यते । ब्राह्मणैरेव वेदमार्गो बोधयते, नाऽन्यैरिति तेषां संमाननाभावे अप्रवृत्ति , पाषण्डतुल्यता वा स्यात् । **वृषेति** संबोधनं धर्मरूपत्वाय, वर्षणाद्वा ॥२३॥

व्याख्या--जी आप द्विजोंके उत्तम कुल का रक्षण न करो तो, उस समय ही आपका कल्याणकारी वेद मार्ग नाश हो जायेगा । कारण कि स्वामी के कृत्य को ही लोक प्रमाण रूप स्वीकार करते हैं, द्विजो का उत्तम कुल वह है जो धर्म और ज्ञान वाला हो और उस (धर्म और ज्ञान) से आत्मा का व आप अपनो आत्मा का रक्षण करता हे । यदि आत्मा स्थित होगा तो अपने मार्ग पर चलेगा । अतः प्रथम, आत्मा रक्षा करने के योग्य है उसके बाद अपने मार्ग की रक्षा, जिस मार्ग से जो अपनी आत्मा (भगवान्) के पास आते हैं वह स्वमार्ग है उसमें भी भक्तों को आने में जो भी प्रतिबन्ध (रुकावट) हो उन प्रतिबन्धों को दूर करना ही रक्षण है । यदि वे भगवद्रक्षक, धर्म और ज्ञान वाले बने, भक्ति मार्ग का प्रचार करे तब वे रक्षा के योग्य हैं, यह अर्थ है उनको रक्षा तीन प्रकार की है १-स्वरूप से रक्षा अवतार धारण कर की जाती है, २-भीतर की रक्षा-अर्थात् अन्तःकरण में सन्तोष, सुमधुर वाणी से किया जाता है, ३-बाहर की रक्षा, अच्छे प्रकार से कायाद्वारा पूजन करके को जाती है, जब उनका यों आप (भगवान) पूजा द्वारा सम्मान करते हैं तब भगवन्मार्ग का उपदेश कर सकते है जिसका प्रभाव लोको पर पड़ता है यदि यों न करो तो सफल उपदेश नहीं कर सके, अन्तःसन्तोष होने से ही भगवत्कार्य सिद्ध हो सकता हैं, यदि मार्ग प्रवर्तकों की रक्षा न होवे तो, मार्ग नाश हो ही जाय, तब ही पाषण्डपन्थों को प्रवृति सुगम होती है, यों भी न कहना चाहिये कि बहुत मार्ग विद्यमान हैं फिर वेद मार्ग की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं कि वह 'शिवः' है दूसरे पन्थ अचानक लाभकारी होते हैं और फिर दुःख से फल देने वाले है वह भी किसी को ही । प्रायः नहीं, वेद मार्ग 'शिवः' कल्याण रूप है यदि ब्राह्मणों का सम्मान नहीं किया जाए तो,

वेद मार्ग की रक्षा क्यों न हो सकेगी ? इस शङ्का पर कहते हैं कि ।'लोकोऽग्रहोष्यदिति'' लोक तो स्वामी अर्थात् भगवान् जो मानता है उसको ही मानते हैं।

ब्राह्मण ही वेद मार्ग समझाते हैं दूसरे नहीं समझा सकते हैं, इसलिए उन ब्राह्मणों का यदि सम्मान न किया जायेगा तो उनकी उपदेश देने में प्रवृति नहीं होगी, अथवा पाषण्ड के समान प्रवृत्ति हो जाय. भगवान् धर्म रूप हैं और इच्छित पदार्थों की वृष्टि करने वाले हैं अर्थात् मनोरथ पूर्ण करने वाले हैं इसलिए 'वृषः' ! सम्बोधन दिया है ।।२३।।

आभास—नन्वेवं सति वैषम्यप्रप्रतिपादनान्मम ब्रह्मत्वं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह–

आभासार्थ—यदि यों होगा, तो मैं विषमता करने वाला हो जाऊंगा, जिससे मेरा ब्रह्मत्व नहीं रहेगा, इस शङ्का के उत्तर में यह श्लोक कहते हैं—

श्लोक—तत्तेऽनभीष्टमिव सत्त्वनिधेर्विधित्सोः क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः ।
नैतावता त्र्यधिपतेर्बत ! विश्वभर्तुस्तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः ।।२४।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों का सम्मान धर्म रक्षा के लिए किया जाता है, वह (सम्मान) आपको पूर्णतः अभीष्ट नहीं है, कारण कि यों करने से इनका (ब्राह्मणों का) सम्मान करने से विषमता प्रकट होती है, अथवा पूर्व श्लोक में वेदमार्ग का जो नाश कहा है वह भी आपको पूर्ण अभीष्ट नहीं है, अनभीष्ट का अर्थ सर्व प्रकार अभीष्ट का अभाव है. अनभीष्ट इनका भाव है कि अल्प अभीष्ट का अभाव अर्थात् पूर्णतया अभीष्ट नहीं हैं ।।२४।।

सुबोधिनी – तत्तेऽनभीष्टमिति । तद्ब्राह्मणानां रक्षार्थं सन्मानम्, **तेऽनभीष्टमिव** । अथवा, पूर्वश्लोके वेदमार्गनाश उक्तः, अतस्तद्वेदनाशनं **तेऽनभिष्टमिव** । सर्वथाऽभीष्टाभावोऽनभीष्टम्, अल्पाभीष्टाभावस्त्वनभीष्टमिव । प्रथम पक्षे रक्षा एवार्थः, द्वितीये नाशः; कालत्वात् सर्वकर्तृत्वाच्च । तत्र हेतुः–**सत्त्वनिधेरिति** । सत्त्वनिधे रक्षाऽभीष्टा, नाशस्त्वनभीष्टः । **विधित्सोरिति**। स एव तथा विधातुमिच्छति । जनाय हि क्षेमं विधातुमिच्छति, जायमानाः स्वकृतेनैव हि सम्यक् भवन्तीति : अथवा, सत्त्वनिधेर्नाशोऽनभीष्टः । जनानां क्षेमकरणं तन्नाशः, उत्पत्तेर्वेदनाश एव भवति । उत्पत्त्यर्थं क्षेमश्चेत्, उत्पन्नानां वा वैदिकस्य संस्कारकत्वे पाषण्डाद् दुर्बलत्वम् । पुरुषार्थप्रतिपादकत्वे देहनिर्वाहकपाषण्डाद्बलिष्ठत्वम् । **निजशक्तिभिरुद्धृतारेरि**त्युभयत्र हेतुः । स्वस्याऽसाधारणसामर्थ्यैरुद्धृता अरयो येन । उभयत्राऽपि प्रतिबन्धकाभावो भगवच्छक्त्यैव सिद्धः । ननु तथापि स्वस्य दोषजननेन परोपकारः सिध्यति, धर्मरक्षायां त्वेक एव दोष इति चेत्तत्राऽऽह–

नैतावतेति । स्वस्य नमनमात्रं न दोषः, नमतां नमनमिति व्युत्पत्तेः । नम्रभावो हीनानामेव हीनत्वबोधकः, उत्कृष्टानां तु भारसूचक एव । ये हि महाभारवन्तो भवन्ति ते नम्रा भवन्ति, अतो नम्रत्व मनम्रत्वं वा नैकान्ततो दोषरूपम्, गुणरूपं वा; अतस्तव महत्त्वं सिद्धमिति । हीनावनतिः कौतुकार्थं भवत्यभिनयरूपत्वात् । स एव हि रसजनकः । महत्वमाह--**अधिपतेरिति** । बतेति हर्षे, स्वस्तिसन्माननापरिज्ञानात् । **विश्वभर्तुरित्यपि** माहात्म्यम् । विश्वं हि यो बिभर्ति स हि लोके भाराक्रान्त इव नम्रो भवति, अन्यथा लोका भर्तुर्भारं न ज्ञापयेयुः । अतो नमनस्य प्रयोजनद्वयम्, लोके स्वस्य भर्तृत्वज्ञानम्, स्वार्थे तु विनोदः अवनतस्य सोऽवनतिरूपः पदार्थः, ते विनोद इति संबन्धः । अनेन दोषः परिहृतः ॥२४॥

व्याख्या—प्रथम पक्ष आप सत्त्वनिधि हैं अतः आपको रक्षा करना अभीष्ट (पसंद) है दूसरा पक्ष आप कालरूप हैं अतः आपको नाश करना अभीष्ट है रक्षण करना अभीष्ट नहीं है, एवं आप सर्वकर्ता हैं अतः आपको वेद का नाश अभीष्ट नहीं है उसकी रक्षा ही चाहते हो, 'विधित्सोः' वह सत्त्व निधि ही यों करना चाहता हैं, अर्थात् मनुष्यों के लिए रक्षण ही चाहते हैं उत्पन्न हुवे अपनी कृति (भगवत्स्मृति) से ही श्रेष्ट बनते हैं, तथा सत्वनिधि (भगवान्) को उनका नाश होना पसद नहीं हैं यदि मनुष्यों को क्षेमवान् किया जाय तो वेद का वैदिक मार्ग का नाश होता है, उत्पत्ति (जन्म मरण) का चक्र फिरता रहे तो भी वेद का (वैदिक मार्ग का) नाश होता है यदि उत्पत्ति के लिए सुख हो तो यों (वेद नाश) होता है ।

उत्पन्न हुवे जीवों की रक्षणार्थं किया हुआ वैदिक संस्कार पवित्र करने वाला होने से पाषण्ड के कारण दुर्बल होता हैं, यदि पुरुषार्थों का प्रतिपादक हो तो देह निर्वाहक पाषण्ड से वह बलिष्ठ है, 'निजशक्ति भिरुद्धतारेः' यह दोनों का कारण है, अपने असाधारण सामर्थ्य से जिसने शत्रुओं का उद्धार किया है । भगवान् की शक्ति से ही दानों तरफ प्रतिबन्धकों का अभाव हुआ है । तो भी अपने को दोष लगाने से परोपकार सिद्ध होता है धर्म रक्षा करने पर यह एक ही दोष लगता है यदि यों कहो इसका उत्तर यह है, 'नैतावता' भगवान् का ब्राह्मणों को केवल नमन दोष नहीं हैं, क्योंकि स्वभावतः नमे हुए (भार वाले, बोझ वाले) हो नमते है ऐसे बड़े होते हैं जो बोझ वाले नहीं होते (छोटे) है उनका नमन उनके लिये ही हीनता बोधक है और जो महान् हैं वे यदि नमते है तो समझा जाता है कि इनमें भार है (बोझ है) जो अधिक भार वाले होते हैं वे नम्र होते हैं, अतः नम्रता व अनम्रत्व समान ही हैं, न दोषरूप हैं और न गुण रूप है । अतः आपकी महत्ता सिद्ध ही है, फिर भी आप जो नमन करते हैं वह हीनता का सा दृश्य दीखता है परन्तु वह वास्तव में नाट्य रूप होने से रस को उत्पन्न करता है । 'अधि' पद से भी उत्तमता प्रदर्शित की है । स्वस्ति (वेद का) और सम्मान के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण अहो ! वत! पद से हर्ष की सूचना दी है 'विश्वभर्तुः' पद से भी माहात्म्य प्रकट किया हैं, निश्चय है कि जो विश्व का भरण (पालन–रक्षण)

करता है वह ही लोक में भार से झुका हुआ होता है (नम्र होता है अभिमान् रहित होता है जिससे उसको नमन करने में हीनता प्रतीत नहीं होती है) यदि नम्र न होवे तो लोक स्वामी (भर्ता) के भार की प्रशसा नहीं करे, अतः नमन के दो प्रयोजन है (१) लोक में अपने भर्तापन का ज्ञान कराना (२) अपने लिए एक प्रकार का विनोद अवनत का, यह नमन अवनतिरूप है, अर्थात् हीन नमन करने से अपनी हीनता समझता है, किन्तु आपके लिए विनोद है, यों सम्बन्ध है, इससे दोष को मिटाया है ।।२४।।

आभास--एवं पूर्णान्तःकरणा भूत्वा, भगवता यो दण्डः स्थापितः, तत्राप्यभिप्रायापरिज्ञानात्, स्वापराधं दूरी कुर्वन्ति–

आभासार्थ--इस तरह आनन्द से पूर्ण अन्तःकरण वाले मुनिओं ने भगवान् के स्थिर किए हुए दण्ड का अभिप्राय न समझ अपना अपराध दूर कराने के लिए इस श्लोक में प्रार्थना की है—

श्लोक–यं वाऽनयोर्दममधीश ! भवान्विधत्ते वृत्ति नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।
अस्मासु वा य उचितोध्रियतां स दण्डो येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बषेण ।।२५।।

श्लोकार्थ—हे सर्वेश्वर ! आप इन दोनों द्वारपालों को जो चाहे वह दण्ड दो अथवा इनकी वृत्ति बढ़ा दें, हम निष्कपट भाव से उस आज्ञा को मान लेंगे । अथवा हमने इन निरपराधियों को यदि शाप दण्ड दिया है तो इसके लिए हमको जो दण्ड देना उचित समझो वह दीजिये ।।२५।।

सुबोधिनी– यं वाऽनयोरिति । हे **अधीश** ! अस्माकं तयोश्च । अधिकेशत्वं नाम वेदयुक्त्याद्यपेक्षयाऽपि, वेदादीनां नियामकत्वं वा; अत एवाऽस्मदुक्तप्रयोजकम् । **अनयोर्भवान् वृत्ति यं वा दमं विधत्ते**, तदनुमन्महि । वृत्तिर्जीविका, द्वारि स्थित्वा, सर्वेषां निवारणं कर्तव्यम् । तदा निवारिताः स्वप्रवेशार्थं स्वकीयं धनंधर्मं वा दास्यन्तीति वत्तिदानम् । स्वयं वा द्वारे परिपालनं करोतीति स्वतन्त्रतया वा वृत्तिदानम् । अस्मदुक्तो वा दण्डोऽन्यो वा, यमेव दण्डं भवान् विधत्ते तदनुमन्महि। भवदिच्छानन्तरमस्माभिरपि स्वीक्रियत इत्यनु **अस्मासु** वेति पक्षे तेषां दण्डोऽस्तु न वेत्यौदासीन्यम् । एवं सर्वभावेन भगवतो माहात्म्यं निरू- माननम् । एतदपि नाऽनुरोधात्, किन्तु **निर्व्यलीकम्** । स्वस्याऽप्यपराधात् दण्डश्चेत् तदप्यङ्गीक्रियत इत्याहुः–**अस्मास्विति** । वेत्युभयत्राऽनादरे। सङ्कोचो न कर्तव्य इत्यभिप्रायेणाऽऽहुः–**य उचित इति** । **ध्रियतां स दण्ड इति** । इदानीं वाक्यमात्रमुक्त्वाऽन्येन तत्फलं संपादनीयमिति न, किन्तु इदानीमेव स दण्डोऽस्मासु स्थापनीयः । अथवा, स एव वा दण्डो जन्मत्रयात्मकोऽस्मासु स्थापनीयः। तत्र स्वस्याऽपराधमाहुः–येन कारणेन अनागसौ निरपराधौ **वयं किल्बिषेण अयुङ्क्ष्महि** योजितवन्तः । स दण्डः सहैवोभयेषां जन्मत्रयमिति । पितम् ।।२५।।

हे सर्वेश्वर ! अर्थात् हमारे और इन दोनों के बड़े स्वामी। बड़े स्वामी पद कहने का भावार्थ है वेदों में कहे हुए तर्कों से भी आप बड़े हैं अथवा वेदादि शास्त्रों के भी आप नियामक हैं, इसलिए सर्वेश्वर हैं, इस कारण से ही जैसा हमने कहा वैसा ही आप करने वाले हुए हैं, इन दोनों को आप जो वृत्ति (जीविका) दो या दण्ड दो वह हम मान लेंगे । वृत्ति अर्थात् आजीविका का सारांश है कि द्वार पर खड़े होकर सबको भीतर आने से रोकना तब जो रोके जायेंगे वे प्रवेश की आज्ञा पाने के लिए अपना धन व धर्म देंगे यह वृत्ति, दान (आजीविका) है, अथवा स्वय द्वारपाल द्वार पर खड़े हो यह कार्य करें इसी तरह स्वतन्त्रता रीति से आजीविका का दान कीजिये, अथवा जो हमने पहले दण्ड (शाप रूप) दिया है अथवा दूसरा कोई, जिस दण्ड को ही आप स्वीकार करोगे उसको हम मानेंगे। आपकी इच्छानुसार हम भी स्वीकार करेंगे, इसको अनुमाननम् (स्वीकार) कहा जाता है. यह भी आपके आदरार्थ नहीं, किन्तु शुद्ध भाव से स्वीकार करते हैं, यदि हमारा भी अपराध हो तो उसका हमको भी दण्ड दीजिये वह भी हम स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, यों 'अस्मासु' पद से कहते हैं, 'वा' पद दोनों प्रसङ्गों में अनादर सूचक है सङ्कोच नहीं करना, इस अभिप्राय से कहते हैं। 'यं उचित इति' जो दण्ड उचित हो वह बिना संकोच कीजिये, अब आप वाणी मात्र से कहकर फिर दूसरे से उसका (वाणी का) फल (दण्ड) दिलाओ यों न करना, किन्तु वह दण्ड अब ही कीजिए, अथवा वह ही दण्ड जो द्वारपालों को तीन जन्म का दिया है हम पर लगाईये, क्योंकि हमने निरपराध दोनों को क्रोध के कारण अपराधी बनाया है, अतः वह तीन जन्म लेने का दण्ड साथ ही दोनों को हो। 'अस्मासु वा' पद से कहते हैं कि उनको दण्ड हो, या नहीं हो, यों कहकर उदासीनता दिखाते हैं किन्तु हमको तो अपराध का दण्ड दीजिये, इस तरह सर्वभाव से भगवान् का माहात्म्य निरूपण किया है— ॥२५।

आभास–भगवांस्तु शापाद्भीता इति तान् ज्ञात्वा शापं स्वकृतमित्याह–

आभासार्थ--भगवान् ने जान लिया कि इन मुनियों ने जो मेरे द्वारपालों को शाप दिया है उससे डरे हुए हैं अतः भगवान् उनको (मुनिओं को) आश्वासन देने के लिए इस श्लोक में कहते हैं कि यह शाप मेरी ही इच्छा से इनको (द्वारपालों को) आपने दिया है।

श्री भगवानुवाच--एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः संरम्भसंभृतसमाध्यनुबद्धयोगौ ।
भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः शापो मयैव निहितस्तदवैत विप्राः ।२६।

श्लोकार्थ–श्री भगवान् कहने लगे कि हे विप्रों ! आपने इनको जो शाप दिया है वह मेरी ही इच्छा से हुआ हैं, अब ये दोनों देवों से पृथक् अन्य गति को (असुरादिको) प्राप्त होंगे, उस योनि में मुझसे वैर के कारण बढ़ा हुआ क्रोध रूप योग जिससे मुझमें एकाग्रचित्त होने से फिर शीघ्र ही मेरे समीप लौट आयेंगे ॥२६॥

सुबोधिनी-एताविति । **सुरेतरगति** दैत्यत्वम्, राक्षसत्त्रम्, मनुष्यत्वं च । इतरत्वं समाने भवतीत्यसुरमनुष्ययोर्देवतुल्यत्वं **'त्रया हप्राजापत्या:'** इत्यत्र निरूपितम्, राक्षसा अपि बीजपराक्रमाभ्या देवतुल्या इति । यक्षादयस्तु न स्वतन्त्रा:, कुबेरस्तु देव एव; अतस्त्रिविधामेव सुरेतरगति प्रतिपद्य सद्य एव भूयो ममाऽन्तिकमुपयास्यत: । **यो वो** युष्माभिर्दत्त: **शाप:** स मयैव **निहित** इति, **तदवैत। निमित इति** पाठे नितरां मयैव मित: । **विप्रा** इत्यदीर्घदशित्वम् । ननु सुरेतरगतिप्राप्तौ शीघ्रं कथं भवत्समीपागमनम्, तत्तज्जन्मकर्मणां भोक्तव्यत्वादित्याशङ्क्याऽऽह--**संरम्भसंभृतसमाध्यनुबद्धयोगाविति** । क्रोधसंरम्भेण सम्यस्मृतो य: समाधि:, तेनाऽनुबद्धो योग: योगेन सर्वपापक्षय इति पूर्वमवोचाम । **भूय: सकाशमुपयास्यत** इति शापान्त: । परिमितशापदानं मत्कृत: शाप इत्यवैतेति निर्भयार्थम् ।।२६।।

व्याख्या—'देवों' से दूसरे प्रकार की गति अर्थात् दैत्यपन राक्षसपन और मनुष्यपन, इतर कहने से समानतत्व वताया है, अत:असुर और मनुष्यों में देवतुल्यता है जैसा कि कहा हैं कि 'त्रयाह' प्राजापत्या इस श्रुति में बीज और पराक्रम के कारण राक्षस भी देवों के समान हैं यक्ष आदि तो स्वतन्त्र नहीं है । कुबेर तो देव ही है अत: तीन प्रकार को सुरेतरगति को प्राप्त कर फिर शीघ्र ही मेरे पास आयगे ।

आपने जो शाप इनको दिया है वह मैंने ही दिया हैं, यों समझो 'निहित' के स्थान पर 'निमित' पाठ होवे तो उस का आशय हैं कि इस शाप को मैंने ही स्वल्प (छोटा) कराया हैं, विप्रा:! विशेषण से सूचित किया हैंकि ब्राह्मण होनेसे दीर्घ दर्शी नहींहो, इनको तीन योनि भोगनी हैं तो फिर शीघ्र कैसे लौट आयँगे ? क्योंकि उस जन्म के कार्यों को भोगने में समय लगेगा, इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं, 'संरम्भसंभृतसमाध्यनुबद्धयोगौ' क्रोध वेश के कारण पूर्णरूप से भगवान् में समाधि लग जाने से जो योग सिद्ध होगा उससे सर्व पापक्षय हो जाने से मेरे पास शीघ्र आयेंगे, ऐसे शाप का अन्त होगा शाप को स्वल्प करने का तात्पर्य है कि शाप मैंने ही दिया हैं यों यह श्लोक मुनिओं के निर्भयार्थ है ।।२६।।

आभास—एवमागतानां मुनीनां सर्वदु:खदुरीकरणमुक्तम् । इदानी सर्वेषां यथायथं प्रतिगमनमाह–अथेति । तत्र प्रथमं योगिनां प्रतिगमनं द्वाभ्यामाह कृतकरिष्यमाणप्रमेयभेदेन—

आभासार्थ—इस तरह कहकर पधार कर आये हुए मुनिओं के दु:ख दूर किये अब सर्व अपने२ स्थान पर जाने लगे यों कहते हैं जिसमें पहले योगियों का गमन दो श्लोकों से किये हुए और जो करना है दोनों का प्रमेय भेद से वर्णन करते है अग्रिमकृत्य २८ वें श्लोक में कहते हैं–

ब्रह्मोवाच । श्लोक—अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम् ।
वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं च स्पयं प्रभुम् ।। २७ ।।

भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्याऽनुमान्य च ।
प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम् ।।२८।।

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी ने कहा—पश्चात् उन सनत्कुमार योगियों ने नेत्रों को आनन्द-दायी पात्र रूप विष्णु और उनके स्वयं प्रकाश स्वरूप वैकुण्ठ के दर्शन किये तथा उनकी परिक्रमा को अनन्तर प्रणाम कर आज्ञा लेके भगवान् के ऐश्वर्य का बखान करते हुए प्रसन्नता से लोटने लगे ।।२७।। ।।२८।।

सुबोधिनी--**अथेति** । पुनस्ते स्वभावं प्राप्ताः, यतो मुनयः । यस्य या निष्ठा तस्य स एव गुणः, विपरीतो दोषः । ते ह्यन्तरेव भगवन्तं पश्यन्ति, न बहिः । बहिर्दर्शनं च नोपकारीति **प्रतिजग्मुः** । बहिर्दर्शने एको गुणो जात इत्याह—**नयनानन्दभाजनमिति** । इन्द्रियाणि हि परमैश्वर्यसंबन्धात् सुखं पञ्चधा विभज्य रूपादिभेदेन तमानन्दमनुभवन्ति, करणत्वाज्जीवस्यापि सुखजनकानि । अयं च भगवानानन्दमूर्तिलावण्यपूर इति नयनानन्दस्य भाजनम् । तद्भाजनं द्वयमपीत्याह—**वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं चेति** । ननूभयोस्तुल्यतया नयनानन्दभाजनत्वं कथमुच्यते ? तत्राऽऽह—**स्वयं प्रभुमिति** । लोकः स्वयमेव, वैकुण्ठोऽपि स्वयम्: तथापि प्रभुत्वेन भगवत्स्फुरणे लोकत्वेन तत्स्फुरणात्. अक्षरस्य भगवत्त्वाच्चोभयोस्तथात्वमित्यर्थः ।।२७।।

व्याख्या – वे फिर अपने स्वभाव को प्राप्त हुए क्योंकि मुनि थे जिनकी जैसी श्रद्धा (निष्ठा) उनका वह ही गुण होता है । उससे विपरीत होवे तो दोष कहलाता हैं । वे मुनि होने से अन्तःकरण में (भीतर) ही प्रभु के दर्शन करते हैं । बाहर नहो, बाहर का दर्शन उपकारी नहीं है, इसलिये लौटने लगे, इस समय यहां आने से जो भगवान् का बाहर साक्षात् दर्शन हुआ उनसे एक गुण (लाभ) हुआ, वह 'नयनानन्द भाजनम्' वाक्य से बताया है. इन्द्रियां परमैश्वर के सम्बन्ध से जो सुख प्राप्त होता है उसको पांच भागों में बांटकर रूप आदि भेद से उस आनन्द का अनुभव लेती है, इन्द्रियां साधन हैं जिससे जीव को भी आनन्द स्वरूप लावण्य से भरपूर हैं इसलिये नयनानन्द के भाजन (पात्र) हैं, वह पात्र दोनों 'वैकुण्ठ और उसका अधिष्ठान विकुण्ठ (प्रभु) दोनों का समान नयनानन्द भाजन से बनेगा ? इसका समाधान करने के लिये कहते हैं 'स्वयं-प्रभुम्' लोक (विकुण्ठ) आप ही हैं तो भी भगवान् जब प्रभु तरीके स्फुरते हैं तब विकुण्ठ लोक तरीके स्फुरित होता है वह अक्षर-रूप धाम भगवान् है अतः दोनों समान है । २७।

कारिका—भगवन्तं परिक्रम्येति । प्रदक्षिणा नमस्कार आज्ञाप्रार्थनमेव च ।
आगत्यतोष-भावश्च गमने स्तोत्रमेव च ॥१॥

कारिकार्थ—(१) प्रदक्षिणा, (२) नमस्कार (३) जाने की आज्ञा के लिए प्रार्थना, (४) आकर प्रसन्नता की वृत्ति होना, (५) जाते समय प्रशंसा करनी, आये हुए मुनियों के आनन्द का लक्षण पांच अङ्गवाला कहा है ॥१॥

कारिका—समागतानां पञ्चाङ्गं तोषलक्षणमुच्यते ।
यथागतिगतिः कार्ये प्रसङ्गं वारयेदिति ॥२॥

कारिकार्थ—कार्य करने में प्रतिबन्ध के भय से जैसे आए वैसे लौट गए ॥२॥

सुबोधिनी—प्रतिजग्मुःरागमनप्रकारेणैव पुनगता इत्यर्थः । बहिर्दर्शनस्याऽधिकत्वात् प्रकर्षेण मुदिताः । **वैष्णवीं श्रियभिति** शान्तिप्रसादलक्षणाम् । पुर्वस्मादयमेव विशेषः ॥२८॥

व्याख्या—'प्रतिजग्मुः' क्रिया का आशय है कि जिस प्रकार आए उसी प्रकार से लौट गए, उन्हे जो यहाँ भगवान् के साक्षात् दर्शन बाहर हुए उनसे बहुत प्रसन्न हुए, क्योंकि बाहर के दर्शन भीतर के दर्शन से अधिक है 'वैष्णवीं श्रीयम्' विष्णु की शान्ति एवं प्रसन्नता रूप सम्पत्ति इनके आने से पूर्व जो थी उससे अब वह ही विशेष है । ॥२८॥

आभास—अग्रिमकृत्यमाह-भगवतो निर्गमनं वक्तुं सेवकयोः समाधानमाह-

आभासार्थ—भगवान् का निर्गमन कहने के लिये सेवकों का समाधान कहते हैं-

श्लोक—**भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम् ।**
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं नु मे ॥२९॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने अपने अनुचरों को कहा, जाओ भय मत करो तुम्हारा कल्याण होगा, यद्यपि' मैं ब्रह्म तेज को मिटाने के लिए समर्थ हूं तो भी यों करना नहीं चाहता हूं कारण कि जो हुआ वह मेरा निश्चित मत हैं ॥२९॥

सुबोधिनी—**भगवानिति** । अनुरोधे हेतुः—**अनुगाविति** । तेषां वाक्यविश्वासे कारणम्-**भगवानिति** । **यातमित्याज्ञा** शापेन गमनाभावार्थम् अनेन तयोः स्वधर्मौ रक्षितः । अत एव-**मा भैष्टम्** । शापेन गमने सति भयं भवति । ननु कृते कारणे कथं फल न भविष्यतीत्याङ्क्याऽऽह-**अस्तु शमिति** । भवतां कल्याणमस्तु । इदानी सालोक्यम्, गतानां तु सायुज्यं भविष्यतीत्यर्थः ।

इदानीं लोके कौचिद्भवन्तौ, पश्चाल्लोकरूपावेव भतिष्यत इति **'लोकाय कल्पताम्'** इति वाक्यम् । चरणपदमपि तमेवार्थं वक्ति। प्रविष्टयोश्चरणभावश्च सिद्धः, नैकठ्यं तु तदा महत् । किं ब्राह्मणानामनुरोधेनैवं क्रियते ? नेत्याह-**ब्रह्मतेज इति**। ब्रह्मास्त्रं किल दूरीक्रियत आधिदैविकं ब्रह्मतेजः, इदं त्वाधिभौतिकम् । अतः समर्थोऽपि ब्रह्मतेजो हन्तुं नेच्छे, सृष्टयुपयोगित्वात् । अतो **मम मतम्** । नु इति निश्चये । अभिप्रायं तु भगवानेव जानाति, वचनात् न कल्प्यते, कल्प्यमानोऽपि कार्यानुरोधेन कल्पनीय इति ।।२९।।

व्याख्या—आज्ञा पालन की क्योंकि सेवक हैं उन्होने वाक्य में विश्वास किया कारण कि आज्ञाकर्त्ता भगवान् हैं शाप के कारण नहीं जाओ किन्तु मेरी आज्ञा जाने की है इसलिये जाओ, उन्होने जाने से अपना धर्म पाला इस कारण से 'माभैष्ट' आशीर्वचन कहे हैं मत डरिये, शाप के कारण जाते तो भय होता अब आज्ञा से जाने पर भय नहीं किन्तु कल्याण होगा जब, ऐसा कर्मकिया है तो फल कैसे न होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिये ही कहाहै अस्तुशम' आपका कल्याण हो ? क्या कल्याण होगा अब सालोक्य मुक्ति जाकर लोटोगे तो सायुज्य मुक्ति है पाओगे अर्थात् इस समय वैकुण्ठ मेंआप कुछ (द्वारपाल) हो बाद में लोक रूप हो जाओगे लोकायकल्पताम्' इस वाक्य में कहे अनुसार, 'चरणपद' का भी यह अर्थ है, जिनका भगवान् में प्रवेश हो गया है उनका चरण भाव तो सिद्ध ही है तब निकटता तो महती है, क्या ब्राह्मणों में आदर होने से भगवान् ने यों किया है ? उत्तर में कहते हैं कि जो ब्रह्मास्त्र आधिदैविक तेज वाला था उसको भी भगवान् ने दूर कर दिया यह तो आधिभौतिक है इसको दूर करने में क्या देरी लगेगी फिर समर्थ होते भी दूर नहीं किया, जिसको बताते हैं कि मैं (भगवान्) यों करना नहीं चाहता हूं क्योंकि सृष्टि के उपयोगी होने से इस कारण निश्चय मेरा मत यों हैं। जिसका अभिप्राय भगवान् ही जानते हैं, वचनों से कल्पना नहीं होती है । यदि कल्पना की भी जावे तो भी वह कल्पना कार्यानुकूल करनी चाहिये ।।२९।।

आभास—तर्हि ब्रह्मशापस्य का गतिः ? तत्राह–

आभासार्थ—तब ब्रह्मशाप की क्या गति होगी ? इस पर कहते हैं–

श्लोक–**मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम् ।**
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाऽल्पीयसा पुनः ।।३०।।

श्लोकार्थ—अब दैत्य योनि में मेरे प्रति क्रोध वृत्ति द्वारा जो एकाग्रता होगी उसमे ब्राह्मणों के तिरस्कार करने से जो आपको पाप लगा है वह मिट जायेगा, फिर शीघ्र ही मेरे पास लोट आओगे ।।३०।।

सुबोधिनी--भयोति । ब्रह्मशापस्य प्रायश्चित्तं कर्तव्यम् । प्रायश्चित्तातन्तर हि पुरुष; शुद्धः, शुद्धेनैव हि विहितं कर्तव्यम्, भगवद्भक्तानां च प्रायश्चित्तं भगवत्स्मरणमेव । तच्च स्मरणं लौकिकं भवति, शुद्धस्यैव हि वैदिके अधिकारात् । लौकिकत्वात् प्रायश्चित्तत्वं च । नित्यता तु स्मरणस्य प्रथमप्रवृत्तानाम्, यावद्भगवदीया भवन्ति । पश्चात्तुपापमेव नोत्पद्यदे । भगवदिच्छया तु तदुत्पत्तिः तदिच्छाया बलिष्ठत्वात् स्मरणं न सम्भवति । लौकिके तु बाधाभावात् भगवत्सायुज्यादिसाधकत्वाभावेऽपि प्रायश्चित्तत्वमस्ति, दोषनिर्घातकत्वस्य स्मरणसहजधर्मत्वात् । कामादयो हि केवललौकिका लौकिकपोषहेतवः । क्रोधोऽत्र शापे हेतुर्जात इति क्रोधेनैव स्मरणं भविष्यति, अन्यथा विस्मरणमेव स्यात् । एवं गोपिकानां कामोऽपि । ब्रह्मणा हि कामेन वाक् शप्ता, अत एव वाचा न प्रजापतेर्होमः । 'वाक् च मनश्चार्त्तीयेताम्' इत्युपाख्याने तथा निरूपणात् । सैव वाक् गोपिकाः । भयेन शुक्राचार्येण शप्ताः कालनेमिप्रभृतयः. ते हि बृहस्पतिमुररीकृतवन्तः तत्पौरोहित्यगमनभयात् क्षिप्ता इति भयेनैव स्मरणं कंसस्य । अन्ये च देवा यथायथं लत्तत्संबन्धिनो बृहस्पतिदुर्वासः प्रभृतिभिः शप्ता इति संबन्धस्नेहादेव स्मरणं यादवादीनाम् । एते चत्वारोऽपि शापात् तथोत्पन्नाः, तथा स्मरणेन तत्तच्छापं हित्वा स्वभगवदीयेनैव रूपेण भगवत्पदं प्राप्ताः । तथाऽत्रापि '**अस्तु शम्**' इति वाक्यात् भगवत्पदप्राप्तिः । भगवति च क्रोधसंरम्भयोगेन ब्रह्मावज्ञालक्षणं दोषं निर्हृत्य, **मे निकाशं** समीपम्, अतिनैकट्यं वा द्वारापेक्षया चरणे **अल्पीयसा कालेन** पुनः **प्रत्येष्यतमिति** । क्रोधसंबन्धस्य लोके अपुरुषार्थत्वात् पुरुषार्थत्वाय योगपदम् ॥३०॥

व्याख्या--ब्राह्मणों के दिये हुए शाप का प्रायश्चित करना चाहिये, क्योंकि प्रायश्चित करने के बाद ही पुरुष निश्चय शुद्ध होता है, शुद्ध को ही वैदिक कर्म करना चाहिये भगवद्भक्तों के लिये प्रायश्चित भगवान् का स्मरण ही है और वह स्मरण लौकिक है, शुद्ध को ही वैदिक कर्म में अधिकार है, लौकिकत्व और प्रायश्चितत्व दोनो भगवत्स्मरण में है । स्मरण में प्रथम ही जो प्रवृत हो नित्य स्मरण तब तक करता रहे जब तक भगवदीय बने । पश्चात् तो उनमें पाप उत्पन्न ही नहीं होता है, यदि भगवदिच्छा हो तो उत्पन्न होता है, उनकी (भगवान् की) इच्छा बलवान् है उनकी इच्छा यदि ऐसी होती है तो फिर इस जीव से भगवान् का स्मरण होना सम्भव नहीं, अर्थात् वह स्मरण करना भूल जाता है, लौकिक स्मरण में बाधा भाव होने से वह स्मरण केवल प्रायश्चित रूप होता है, भगवत्स युज्यादि फल को सिद्ध करने वाला नहीं होता हैं । किन्तु दोषों (पापों) का नाश करना स्मरण का सहज (स्वाभाविक) धर्म है वह मिटता नहीं है, काम आदि (क्रोध) केवल लौकिक हैं लौकिक कामों का पोषण करने वाले हैं यहां शाप में कारण क्रोध हुआ है इसलिये क्रोध से ही स्मरण होगा । यदि क्रोध न होगा तो स्मरण भी न होगा, इसी तरह गोपियों का भी काम स्मरण में हेतु हुआ । ब्रह्मा ने काम के कारण वाणी को शाप दिया इस कारण से ही वाणी से (मंत्र पढ़कर) प्रजापतियों को आहुति नही दी जाती है ? 'वाक्‌वमनश्चाती येनाम्' इस उपाख्यान में इस विषय का वर्णन है । वह ही वाणी गोपिका रूप में प्रकटी हैं, कस के भय के कारण ही बार बार भगवान् का स्मरण होता था क्योकि कंस कालनेमिका है कालनेमिका आदि को शुक्राचार्य ने अपनी पुरोहिताई जाने के भय से शाप दिया था । अतः कंस ने भय से स्मरण किया ।

योग्यतानुसार पृथक पृथक ऋषियों के सम्बन्ध वाले देवों को बृहस्पति दुर्वासा आदि ने शाप दिया वे देव यादव रूप में जब प्रकटे तब उन्होने सम्बन्ध के स्नेह से ही भगवान् का स्मरण किया ये चारों १द्वारपाल २गोपियां ३ कंस और यादव) शाप के कारण ही इस प्रकार प्रकटे अतः स्मरण भी उसी तरह कर शाप को मिटा के फिर अपने भगवदीय रूप से भगवत्पद से प्राप्त किया वैसे इस प्रसंङ्ग में भी 'अस्तुशम् इस वाक्यानुसार भगवत्पद की प्राप्ति होगी, भगवान् के साथ क्रोध रूप योग से एकता हो जाने से ब्राह्मणों का अपमान रूप दोष मिटाकर मेरे समीप अतिशय पास अर्थात् आगे द्वारपर स्थिति थी अब चरण रूप में स्थिति होगी शीघ्र ही लौट आओगे लोक में क्रोध से सम्बन्ध को पुरूषार्थ नहीं माना जाता है अतः योग पद दिया है जिससे यह क्रोध भी पुरूषार्थ बन जावे ॥३०॥

आभास—एवं तयोः सान्त्वनमुक्त्वा भगवान् यथास्थानं गत इत्याह—

आभासार्थ—इसी प्रकार दनों द्वारपालों को आश्वासन देकर भगवान् अपने स्थान पर पधार गये यों इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—द्वाःस्थावादिश्य भगवान् विमानश्रेणिभूषणम् ।
सर्वातिशयया लक्ष्म्या युक्तं स्वं धिष्ण्यमाविशत् ॥३१॥

श्लोकार्थ—द्वारपालों को इस तरह आज्ञा दे, विमान श्रेणियों के सुसज्जित सबसे उत्तम शोभा वाले अपने धाम में भगवान् प्रविष्ट हुए ॥३१॥

सुबोधिनि—**द्वाःस्थाविति**। **आदिश्येति** वचनात् नाऽन्यथाकरणं संभवति। भगवतः खेदो भविष्यतीत्याशङ्कयाऽऽह-**भगवानिति**। ऐश्वर्यज्ञानवैराग्याणां खेदनाशकत्वात्। नन्वेतावुभौ निष्कासितो दुष्टौ चेत्, अन्येऽपि तथा भविष्यन्तीति तन्निष्कासनमपि कर्तव्यम्, अन्यौ च द्वारपालकौ कर्तव्यौ। तदुभयम कृत्वा कथं गृहे गत इत्याशङ्कयाऽऽह-**विमानश्रेणिभूषणमिति**। विमानानां श्रेण्यः, तासां भूषणमलङ्कारभूतम्। वैकुण्ठस्थितानि सार्थकानि। अतो विगतो मानो येषामिति तदतिरिक्ताः सर्वेऽभिमानरहिताः, अतो निर्दुष्टा इन्यर्थः। त एव तत्र साधारणा अपीति **श्रेणिपदम्**। तेषामपि भूषणमिति सर्वथा सर्वदोषरहितं स्थानमित्यर्थः अत एवाऽन्ये न विनियुक्ताः, एतौ सदोषाविति। परं द्वारस्थत्वेन नियुक्तौ, न त्वन्यप्रतिरोधार्थम्, मुनीनां वाक्येन तथा निर्णयात्। पुनस्तत्रैव गमने हेतुः-**सर्वातिशयया लक्ष्म्येति**। सर्वेभ्योऽतिशयया। लक्ष्म्यर्थं कृतत्वात् लक्ष्मीस्तं सर्वभावेनाऽलङ्कृतवती, अतः सर्वातिशयया शोभया युक्तं भवति। स्वकीयं स्वरूपभूतं च तत् स्थानमिति नाऽन्यत्र गमनम् ॥३१॥

व्याख्या—'आदिश्य' आज्ञा देकर पद मे सूचित होता है कि वे (द्वारपाल) दूसरी तरह करे यह सम्भव नही यदि करेंगे तो भगवान् को खेद होगा। यह शङ्का भी नहीं करनी, क्योंकि भगवान् में जो ऐश्वर्य ज्ञान और वैराग्य गुण है वे खेद नाशक हैं भगवान् को खेद होता नहीं हैअर्थात् भगवान् को आज्ञा का कोई उल्लङ्घन नही करता है।

यदि ये दुष्ट हैं तो उनको निकाल देना चाहिये था, यदि इनको न निकाला जायेगा तो दूसरे भी वैसे होंगे अथवा दूसरे भी ऐसे हो तो सबको निकाल दूसरे सेवक रखने चाहिये यह कार्य पूर्ण न कर भगवान् कैसे घर को पधार गये ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि विमानश्रेंणिभूषणम्' विमानों की पंक्तियाँ जिस (वैकुण्ठ) की अलङ्कार रूप हैं वैकुण्ठ में स्थित विमान सार्थक (अर्थ वाले) हैं, अत: वहां सर्व अभिमान रहित अर्थात् दोष रहित है, वहां वे साधारण भी भूषण रूप है। अत: श्रेणी पद दिया है, जिसका आशय है कि यह स्थान सर्व प्रकार के दोषों से रहित है। इस कारण से दूसरे नहीं रखे. ये दोष वाले थे इसलिए इनको द्वारपाल करके ही रखा दूसरों को रोकने के लिए नहीं रखा है, मुनिओं के वचनों से पता लगता है कि इन्होने दूसरों को रोकने का कार्य किया है भगवान् फिर वहां गये जिसका कारण 'सर्वातिस्य याललक्ष्मेति पद से बताया है यह स्थान (वैकुण्ठ) लक्ष्मी के लिए बनाया है इसलिए लक्ष्मी ने इसको सर्व प्रकार से सुशोभित किया है। अत: सर्व से विशेष शोभा से युक्त है और वह अपना ही स्वरूप भूत है इस कारण से दूसरे स्थान पर नहीं पधारे ।।३१।।

आभास—एवं भगवतो गृहप्रवेशमुक्त्वा तयोरन्यत्र गमनमाह—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् का अपने गृह में प्रवेश कह कर अब इस श्लोक में द्वारपालों का दूसरे स्थान पर जाना कहते हैं

श्लोक-तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद्धरिलोकत: ।
हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ ।।३२।।

श्लोकार्थ—वे देव श्रेष्ठ जय विजय, ब्रह्मशाप से वहां ही श्री हीन हो गये और उनका गर्व गलित हो गया तब दुस्तर हरिलोक से गिरने लगे ।।३२।।

तौ त्विति। तत्रतयोर्निलीय स्थितिं व्यावर्तयति तुशब्द : **तौ** हि विचारकौ, भगवदाज्ञापरिपालनादेव निस्तार इति। तथा ज्ञाने हेतु:—**गीर्वाणऋषभाविति**। **दुस्तराविति** तस्य लोकस्य तरणं दु:खेनाऽप्यशक्यम्। तत्रापि—**हरिलोकत** : स हि सर्वदु:खनिवारक:। तत्रापि प्रकाशमानो लोक:, अन्यत्राऽज्ञानमेवेति भाव। वैकुण्ठस्थितयोर्या शोभा स्थिता, सा ब्रह्मशापाद्धता; अतस्तत्र स्थातुमपि न शक्यते; तत्रत्यै: सह साधर्म्याभावात किञ्च, विगत। स्मयो गर्वो ययो:। अत एवैतयो: पूर्वं गर्व: स्थित:, न तु निर्दुष्टौ। ततो निष्कासितावित। लोकस्योत्कारित्वख्यापनार्थं लोकत एव विगतस्मयाविति हेतुहेतुमद्भावो निरूपित: ।।३२।

व्याख्या—'तू' शब्द से यह सूचित किया है कि वैकुण्ठ में ही छिपकर नहीं रहे, क्योंकि उन्होने जाना कि भगवदाज्ञापालन करने से ही निस्तार होगा कारण कि वे विचार करने वाले नीतिज्ञ थे, वैसा ज्ञान होने में कारण यह है कि वे देव श्रेष्ठ है, उस लोक को पार करना दुःख से भी अशक्य है, उसमें भो फिर 'हरिलोकतः हरि लोक से वे हरि सर्व दुःख हर्ता हैं इसमें भी फिर प्रकाशमान है इस लोक के सिवाय अन्यत्र अज्ञान ही है यह भाव है वैकुण्ठ में स्थिति के कारण जो शोभा थी वह ब्राह्मण शाप से नष्ट हो गई, अतः वहां स्थिति होना कठिन है क्योंकि वहां के निवासियों के साथ साधर्म्य न रहा और उन दोनों का गर्व भो मिट गया है, परन्तु निर्दोष थे इससे वहां से निकाले नहीं गये। पश्चात् निकल गये, लोक (वैकुण्ड) उपकारी है यों प्रसिद्ध करने के लिये लोक (वैकुण्ठ) के कारण ही अभिमान मिट गया यों हेतु हेतुमद्भाव × का निरूपण किया ॥३२॥

आभास—एवं तत्कृतमुपकारं प्राप्य तौ गतावित्याह–

आभासार्थ—इस प्रकार वैकुण्ड का किया हुआ उपकार प्राप्त कर वे दोनो भगवदाज्ञानुसार गये यों इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक–तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः।
हाहाकारो महानासीद्विमानाग्र्येषु पुत्रकाः ! ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे पुत्रों ! फिर जब वे वैकुण्ठ लोक से गिरने लगे तब उत्तम विमानों में बैठे हुए वैकुण्ठ वासियों ने बहुत हाहाकार किया ॥३३॥

सुबोधिनी–तदेति। **वैकुण्ठधिषणात् तयोर्निपतमानयोः** सतोः, **तदा हाहाकार आसीत्**, अयुक्तं जातमिति। **विमानाग्र्येष्विति** तेषां दर्शनयोग्यता निरूपिता। हाहाकारवर्णनं तयोर्दया सूचकम्, अत एवाऽत्र प्रतीकारो न कर्तव्यः, क्लिष्टयोरधिकक्लेशापतेः। **पुत्रका इति** स्नेहेन संबोधनं स्वस्य दयावत्त्वज्ञापनार्थम् ॥३३॥

व्याख्या—वैकुण्ठ लोक से उनके गिरते समय हाहाकार मच गया, क्योंकि इनका यहाँ से गिरना अनुचित है, विमानाग्र्येषु' पद से यह सूचित किया है कि देवता वहां से इनको देख सकते थे,

---

× इस भाव का आशय है कि वैकुण्ठ वास कारण और अभिमान का दूर होना यह कार्य। इस कारण और कार्य का सम्बन्ध बताया गया है।

देखते ही हाहाकार करने लगे जिससे इन पर दया प्रकट की है, इस कारण से इस विषय में प्रतिकार नहीं करना चाहिए क्योंकि दुःखियां को विशेष दुःख होगा, 'पुत्रकाः ! यह सम्बोधन स्नेह के कारण दिया है, अपना दयालुपन प्रकट करने के लिए ॥33॥

आभास—तयोर्निरूपणस्य प्रकृतोपयोग माह–

आभासार्थ—उन दोनों के निरूपण का प्रकृत (चालु) विषय में उपयोग है यों इस श्लोक में कहते हैं –

श्लोक—तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः ।
दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—दिति के गर्भ में स्थित कश्यप जी के उग्र तेज में भगवान् के उन पार्षद प्रवरों ने आकर प्रवेश किया ॥३४॥

सुबोधिनी – तावेवेति । अधुना तावेव दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेजः प्राप्तौ गर्भे प्रवेश एवाऽत्र, न तु प्रकारान्तरेणाऽन्नादिषु संक्रमः । सुरभावान्निर्गतत्वादसुरत्वम् । तयोर्योग्यं बीजमित्याह–**उल्बणमिति** । स्वभावत एवोल्बणम्, अन्यायेन निर्गतत्वात् । **तत्रापि दितेर्जठरनिर्विष्टम्** तयोरापद्दशेयमिति ख्यापनार्थं पूर्वावस्थाकीर्तनम्–**हरेः पार्षदप्रवराविति** ॥३४॥

व्याख्या—अब वे दोनों ही, दिति के गर्भ में स्थित कश्यपजी के तेज में प्रविष्ट हुए, यहां गर्भ में प्रवेश ही हुआ है कि दूसरे लौकिक प्रकार से अन्न आदि में सक्रमण नहीं हुआ हैं, देव भाव निकल जाने से असुरत्व आ गया। यह बीज उन दोनों के लिए योग्य था इसलिए उस बीज का विशेषण 'उल्बणम्' दिया है अर्थात् वह उग्र बीज था, स्वभाव से ही उग्र था क्योंकि अन्याय से निकला था, फिर प्रवेश भी दिति के गर्भ में किया। उन दोनों के लिए यह दशा आपत्ति की दशा थी। यों बताने के लिए उनकी पूर्वावस्था कहते हैं कि हरेः 'पार्षदप्रवरौ' हरि के उत्तम पार्षद थे ॥34॥

आभास—तर्ह्यन्धकारे किं कारणम् ? तत्राऽऽह–

आभासार्थ—तब अन्धकार होने का क्या कारण ? इस पर निम्न श्लोक कहते हैं–

श्लोक—तयोरसुरयोरद्य तेजसा यमयोर्दिवः ।
आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति ॥३५॥

श्लोकार्थ––उन दोनों असुरों के तेज से स्वर्ग का (देवों का) तेज ढक गया है अर्थात् फीका पड़ गया है। क्योंकि भगवान् की ऐसी ही इच्छा है अर्थात् इस समय भगवान् यों करना चाहते हैं ।।३५।।

सुबोधिनी–तयोरिति। तौ ह्यधुना असुरौ, अतस्तत्तेजसा वो (?) युष्माकं तेज आक्षिप्तम्। भगवत्तेजसा दैत्यतेज आक्षिप्तं भवति, दैत्यतेजसा च देवानाम्। किञ्च, मुनीनामपकारसंस्मरणात् **दिवः। यमयोर्हि व** इति पाठेऽपि **भवतामेव यमौ,** अत एव भवतां तेज आक्षिप्तं भवति। तर्हि प्रतीकारः कर्तव्य इति चेत्तत्राऽऽह **भगवाँस्तद्विधित्सतीति। एतर्हीदानीं भवतामुपद्रवं** भगवानेव विधित्सति, केन प्रतीकारः **कर्त्तव्य** इत्यर्थः ।।३५।।

व्याख्या–क्योंकि इस समय वे दोनों असुर हैं अतः उनके तेज से आप देवों का तेज आच्छिन्न हो (ढका) गया है, भगवान् के तेज से दैत्य तेज आच्छिन्न होता है। दैत्य तेज से देवों का तेज आच्छिन्न होता हैं, किञ्च मुनिओं के अपकार स्मरण से स्वर्ग का तेज फीका पड़ जाता हैं,

यदि 'यमपोहितः यों पाठ हो तो भी यही अर्थ होता है आपके ही दो यम[1] हैं उनसे ही आपके तेज का नाश हुआ है। यदि कहो कि उसका उपाय करना चाहिये इस पर कहते हैं कि "भगवांस्तद्विधित्सति" अब आप के लिये यह उपद्रव भगवान् ही करना चाहते हैं–तो फिर कौन प्रतिकार (उपाय) कर सकेगा? ।।३५।।

आभास–तर्हि का गतिरित्याकाङ्क्षायामाह–

आभासार्थ–तब क्या गति होगी? इस पर निम्न श्लोक कहते हैं––

श्लोक––**विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।**
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्राऽस्मदीयविमृशेन कियानिहाऽर्थः।३६।

१–'सयमो देवानामिन्द्रियं वीर्यमयुवत तद्यमस्य यमत्वंऽनियम पदों निर्वचनात् भवता मेव इन्द्रिय वीर्यनाशका इत्यर्थ' उस यम ने देवों की इन्द्रिय और वीर्य को पृथक २ किया वह ही यम का यमत्व है यम पद की इस व्युत्पत्ति से आपकी इन्द्रिय और वीर्यं को ये नाश करने वाले हुए हैं।–

'प्रकाश'

श्लोकार्थ —जो प्रभु विश्व की स्थिति, नाश और उत्पत्ति के कारण हैं एवं जो आद्य हैं जिनकी योग माया योगेश्वरों से भी कठिनता से पार की जाती है, वे तीन लोकों के स्वामी हैं अतः हमारा कल्याण ही करेंगे, इस विषय में हमारा विचार करना निष्फल है जिसका कोई अर्थ नहीं ॥३६॥

सुबोधिनी — विश्वस्येति । का भवतां चिन्ता स एव शान्ति करिष्यति । तत्र हेतुः-**यो विश्वस्य स्थितिलयोद्भवहेतुरिति** । यस्तूत्पादयति, स एव पालयतित्यधुनाऽपि स एव पालयिष्यति । अथ यदि न पालयिष्यति, तदा **प्रलयकर्तृत्वात प्रलयं** करिष्यतीति न चिन्ता कर्तव्या, । प्रलयस्याऽवश्यम्भावात् । तथापि क्लेशाच्चिन्तेति चेत् तद्युत्पादनमपि करिष्यतीति न चिन्ता कर्तव्या । किञ्च, न केवलं भवतामेव तेन कार्यं कर्तव्यम्, किन्तु विश्वस्यैव । यतो विश्वस्यैव स उत्पत्त्यादिकर्ता । ननु साधारणदाहेऽपि यथा पलायनेन जङ्घालुर्न दह्यते, तथाऽस्मासु प्रतीकारस्त्वया कर्तव्य इत्याशङ्क्याऽऽह-**योगेश्वरैरपि दूरत्ययथोगमाय इति** । भगवतो योगमाया सर्वक्लेशहेतुः सा हि दुरत्यया । साधनेषु योगो महान्, तस्याऽपि ये ईशाः स्वाधीनयोगाः; तैरपि योगमायातिक्रमः कर्तुमशक्यः । अतो न मया प्रतीकारः । तर्हि त्वत्तोऽप्युत्कृष्टो वक्तव्य इति चेत्तत्राऽऽह-**आद्य इति** न ही तदपेक्षया कश्चिदाद्योऽस्ति, यो वक्तव्यः स्यात् । तर्हि स एवोच्यतामित्याशङ्क्याऽऽह — **क्षेम विधास्यतीति** । सोऽनुक्तोऽपि स्वयमेव क्षेमं विधास्यति । तत्र हेतुः—**त्र्यधीष इति** । अन्यथा लोकद्वयमेव स्यात्, यदि ताभ्यां दिवो नाशः स्यात् । ननु ताभ्यां नाशे कृते पश्चात् कथं पालयिष्यतित्याशङ्क्याऽऽह-**भगवानिति** । ननु तथापि त्वया शुभाशसनं कर्तव्यम्, अस्माभिर्वा त्वद्वचनेन तपस्यादिकं कर्त्तव्यमिति चेत्तत्राह- **तत्राऽस्मदीयविमृशेनेति** । यथा पर्जन्येऽवर्षति ततः पूर्वं घटेन क्षेत्रसेचनम् । यदि देवो न वर्षेत् सेकेनाऽपि न सस्योत्पत्तिः, वृष्टौ सत्यां सेको व्यर्थ एव । तत्राऽस्मदीयेन विमर्शेन । तत्र सर्गे, इहेदानीम्, कियान् वा अर्थः ? स सर्वार्थमेव शुभं करिष्यतीति किं प्रत्येकप्रयासेन फलासाधकेनेत्यर्थः ॥३६॥

इति श्री भागवत सुबोधिन्यां श्री लक्ष्मण भट्टात्मज श्री मद्वल्लभ दीक्षित
विरचितायां तृतीय स्कन्धे शोडशाध्याय विवरणम ।

व्याख्या – तुम चिन्ता क्यों करते हो ? वे प्रभु ही कल्याण करेंगे, वह ही पालन करते हैं अब भी वे ही पालन करेंगे, यदि पालन न करें तो प्रलय करेंगे क्योंकि प्रलय कर्त्ता भी आप ही है तो भी चिन्ता नहीं करना चाहिये प्रलय भी अवश्य होने वाली है प्रलय होने पर क्लेश होगा इसलिये चिन्ता है तो इस पर कहते हैं कि फिर उत्पत्ति भी अवश्य करेंगे । अतः चिन्ता नहीं करनी चाहिये, भगवान् केवल आपका ही कार्य (हित) करेंगे ऐसा नहीं हैं । किन्तु समग्र विश्व का कल्याण करने वाले हैं ।

कारण कि विश्व की उत्पत्ति आदि करने वाले वे ही है, साधारण दाह (जलन) होने पर जैसे शीघ्रगामी जन्तु भाग जाने से जलता नहीं है वैसे ही आपको हमारे लिये कोई भी उपाय करना चहिये, इस पर कहते हैं 'योगेश्वरैरपि दुरत्यय योगमायः' भगवान् की योगमाया सर्व क्लेशों का कारण हैं वह ही पार करना कठिन है, यद्यपि साधनों में योग बडा (उत्तम) साधन है, उस (योग) के जो ईश हैं अर्थात् जिन्होंने योग को अपने अधीन कर रखा हैं वे भो योग यदि आप माया का अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं अत: मुझसे प्रतिकार न होगा, से नहीं होगा तो आप से जो उत्कृष्ट हो उसको कहना चाहिये, इस पर कहते हैं कि 'आद्यः' भगवान् से कोई उत्कृष्ट नहीं है वे हो आदि पुरुष हैं, अतः दूसरा कोई कहने योग्य नहीं हैं, जब यों हैं इनको ही प्रार्थना करनी चाहिये, इस पर कहते हैं कि क्षेमंविधास्यति' यह बिना कहने के भी कल्याण करने वाले हैं क्यों कि त्र्यधोश' तीन लोकों के ईश हैं, यदि वे असुर स्वर्ग का नाश करेंगे तो शेष दो लोक बचेंगे, तो फिर स्वर्ग का पालन कैसे करेंगे, दो लोकों के ही ईश हो जायेंगे, अत: यों नहीं होगा क्योंकि भगवान् हैं ऐश्वर्यादि गुण सम्पन्न होने से स्वर्ग का नाश होने नहीं देंगे इसलिये धीरज धरो, यों होने पर भी आप कोई उपाय बताइये आपकी आज्ञानुसार तपस्यादि उपाय हम करें, इस पर उत्तर देते है कि 'तत्राऽस्मदीयविमृशेन....' जैसे वर्षा न होने पर हम घड़ों से खेत को सीचें तो भी धान उत्पन्न न होगा यदि वर्षा हुई तो भी घड़ों से सींचना व्यर्थ ही हुआ, इसी तरह हमारे उपाय में निरर्थक है, अब सृष्टि के विषय में हमारे उपायों का क्या अर्थ है ? कुछ भी नहीं, वह प्रभु सब के लिये ही शुभ करेंगे, इसलिये फल के असाधक प्रत्येक प्रयास करने से क्या लाभ ? ॥३६॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतोय स्कन्ध के सोलहवें अध्याय की
श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दो
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

श्री मद्भागवत तृतीय स्कन्ध अध्याय ६ से १६

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	पृष्ट
अणुर्द्वौ	१०८
अतः परं	९८
अत्रोप सृष्ट	३८१
अथ तस्योशती	४१८
अथते मुनयो	४३८
अथ मे कुरु	२७५
आथाऽत्रापीति	२६७
अथापि काम मेतं	२८२
अथाऽभिप्रेत	४४
अथाऽभिध्यायतः	१५९
अथोप स्पृश्य	२९३
अन्तः स	१३२
अन्तर्बहिः	३११
अन्तर्हिते	६८
अप्रायत्याद	२९९
अयने च	११२
अयं तु कथितः	१३५
अर्वाक् स्रोतस्तु	९६
अलम्पटः	३१०
अलं प्रजाभिः	१५६
अहमात्मात्मना	६२
अह्वया पृतार्तं	२०
आकूतिं रुचये	१९३
आदेशेऽहं	२११
आद्यस्तु महतः	८३
अन्वीक्षिकी	१८१
इति तस्य वचः	१५१
इति तद्गृणतां	४००
इति तां	२७६
इति ते वर्णितः	१४३
इति ब्रुवाणं	२०२
इति मीमांसतः	२२२
इतिहास पुराणानि	१७४
इत्यभिध्यायतोः	२१६
इत्यादिष्टः	१५४
इत्युपस्थीय	२५५
इष्ट्वाऽग्नि जिह्वं	२७०
उत्सङ्गान्नारदो	१६०
उत्स्रोतस	९१
उत्क्षिप्तबालः	२२६
ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान्	१७३
ऋषिमाद्यं	५४
एतस्यांसाध्वि	२८४
एतावत्या	२०६
एतावान्जि	७५
एतौ तौ पार्षदौ	४०१
एतौ सुरेतर	४३६
एवमात्मभुवा	१५८
एवं कालोऽपि	१०६
एवं तदैव	३७०
एवं युक्त	१८९
एवंविधैर	१३२
एवं संचोदितः	७०
एवं संविदिते	२९१
एषतेऽहं	२७७
एष देव	३२६
एषदंनन्दिनः	१२८
एष प्रपन्न	३८
एष मां त्वत्कृते	२७१
एषा घोरतमा वेला	२८३
कङ्क गृध्र	९५
कदाचिद्ध्यायतः	१७१
कालोऽयं द्विपरार्घा	१३६
कालाऽयं परमाण्वादि	१६७
किमेतत्सूकर	२२०
कृतशोकानुतापेन्	३०४
कृतं त्रेता द्वापरं	१२१
कृत्सन प्रसाद	३७४
को नाम लोके	२५८
को वामिहेत्य	३६०
कः श्रद्दधीत	२५१
खरोऽश्वोऽश्वलरो	९४
खुरैः क्षुरप्रेः	२३१
गुणव्यतिकरा	७७
गृहाणैतानि	१५३
गौरजो महिषः	९३
ग्रहर्क्षतारा	११५
घ्राणेन पृथ्व्याः	२२८
चत्वारि त्रीणि	१२३
चरमः सद्विशेषाणां	१०३
चरितं तस्य	२००
चातुर्होत्रं	१७२
छायायाः कर्दमो	१६३
जघान रुन्धान	२३२

श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट
जितं जितं	२३८	तस्मिन्नतीत्य	३५१	त्रसरेणुत्रिकं	१०९
त एकदा	३२९	तस्मिन्प्रसन्ने	२५७	त्रिलोक्या युगसा हृसं	१२५
तत आत्मनि	५०	तस्मै नमो	१६८	त्रिलोक्यां दह्यमा	१२९
ततोऽपरा	१८७	तस्य चोद्धरत:	२६५	त्वन्न: सनातनो	४२३
तत्तेऽन भीष्ट	४३३	तस्याऽभिपश्यत:	२१७	त्वमेक: सर्वं	२०४
तत्सं कुलं	३३८	तस्याऽरविन्द	३८४	त्वं भावयोग	२२
तदा विश्ववेश्वर:	३०१	तस्यैव चाऽन्ते	१३४	दशोत्तराधिकै:	१३८
तदा विकुण्ठ	४४४	तस्योष्णिक	१८३	दितिर्दाक्षायणी	२६८
तदाहुरक्षरं	१३९	तरन्ति ह्यञ्जसा	४२४	दितिस्तु व्रीडिता	२९४
तद्भवान्दह्यमानायां	२७२	तान् बभाषे	१४७	दीक्षनुजन्मोपसद :	2४३
तद्वा इदं	८	तान्न वीक्ष्य	३५६	देव देव !	३१९
तद्वामनुष्य	३६६	ताभ्यां मिषत्	३५८	देव सर्गश्चाष्ट	९७
तद्विधेहि नमस्तुभ्यं	२०५	ताभ्याँ रूप	१९०	दैवेन ते	१४
तद्विलोक्य	७३	तावत्रि भुवनं	१३१	दंष्ट्राग्रकोटचा	२४७
तद्विलोक्याऽब्ज	७१	तावद्भूयं द्रविण	१२	दृष्ट्वा पापीयसी	१४५
तद्विश्वगुर्वधि	३५०	तावेव ह्यधुना	४४५	दृष्टोऽङ्गुष्ठ	२२१
तद्व: प्रसाद	४०३	तिर्यङ्मनुष्य	३३	द्वादशार्धपलो	१११
तन्मे स्वभर्त्तु:	४१६	तिरश्च मष्टम:	९२	द्वार्येतयोर्निविविशु:	३५५
तप आतिष्ठ	१५६	तुभ्यं मद्विचित्रि त्सायां	५६	द्वा: स्थावादिश्य	४४२
तपसा ह्येधमानेन	७२	तेजोयसामपि	१६७	धर्मश्चतुष्पान	१२४
तपसैव परं	१५७	तेनैव तु	२६४	धर्मस्य ते	४३०
तम एतद्विभो	३१८	ते योगमायया	४२१	धर्मस्तनाद्दक्षिण	१९१
तम धर्मे कृत	१६६	ते वा मनुष्य	३८५	धिया निगृह्य	१४९
		तेषामितीरित	३६७	धीर्वृत्तिरुशनो	१५३
तमालनीलं	२३६	तेषां सतां	२२५	न त्वं द्विजोत्तम	४३१
तमेवाऽन्त्वपि	१२६	तेषां सुपक्व	३२३	न ब्रह्मदण्ड	३०२
तमोमात्रा	१२९	तौ तु	४४३	नमो नमस्ते	२४६
तयो: समुच्चयो	११२	त त्वागतं	३७२	नमो रुद्राय	२९५
तयोर सुरयो:	४४५	तं त्वा विदाम	३९१	नमो विज्ञान	३२०
तस्मा एवं	६४	त्रयीमयं रूप	२४९	न वयं प्रभव:	२८१

श्लोक	पृष्ट
न वयं भगवान्	४२२
नह्यन्तरं	३६३
न ह्यस्य लोके	२८७
नाऽतः परं	७
नाऽति प्रसीदति	२४
नाऽऽत्यन्तिकं	३९३
नाना कर्म वितानेन	५३
नाभिह्रदादि	४०
नाऽहं तथाऽद्मि	४०८
निमेषस्त्रिलवो	१०९
निशम्य कौषारविणो	२६३
निशम्य ते घर्घरित	२२४
निशम्य वाच वदतो	१९८
निशावसान	१२६
नैतत्पूर्वैः	१६६
पद्मकोशं तदा	७४
परमेष्ठी तु	२१२
परं शश्रूषणं	२०८
पारावतान्यभृत	३२५
पीतृदेवमनु	१२०
पितांशुके	३७७
पुत्रस्यैव तु	३०५
पुरापिता नो	२७४
पुलहो नाभितो	१६०
पूर्तेन तपसा	६०
पूर्वस्याऽऽदौ	१३४
पुंसां गतिं	३८८
पुंसामतो	२६
प्राजापत्यं हि	३१६
प्राणिनां हन्य	३००
प्रादुश्चकर्थ	३९७
प्रीतस्तुभ्य महं	२०५
प्रीतोऽहमस्तु	५८
ब्रह्मण्यस्य परं	४२२
ब्रह्माणं हर्षया	२२३
ब्रह्मादयो यत्कृत	२९०
भगवन्तं परिक्रम्य	४३८
भगवाननुगावाह	४३९
भगवान्वेद	१२०
भर्त्तर्याप्तोरु	२७३
भविष्यतस्तवाऽभद्रा	२९९
भूतसर्गस्तृतीयस्तु	८५
भूयस्त्वं तप	४९
भूत प्रेतपिशाचाश्च	९८
भूयादघोनि	३६८
मत्तद्विरेफ	३५३
मन्दारकुन्द	३३७
मन्युर्मनुः	१५३
मन्वन्तरेषु	१२९
मरीचिप्रमुखैः	२१९
मरीचिरत्यङ्गि	१६०
मान्सा मे	३२८
मा मे गर्भमिमं	२९५
मयिसंरम्भयोगेन	४४०
मा वेदगर्भ	४८
य एतेन	५९
य एव मेतां	२५६
यच्चकर्थाङ्ग	५७
यच्च व्रजन्त्य	३४८
यत्प्रसादादिदं	३०७
यत्सेवया चरण	४०६
यत्र चाऽऽद्यः	३३१
यत्र नैः श्रेयसं	३३२
यथेदानीं	८१
यदर्धमायुषः	१३३
यदरोदीः सुर	१५२
यदा तु सर्वं	५१
यद्यात्थ बहु	७६
यदा रहित	५२
यदा स्वभार्यया	२०३
यद्योकः सर्वं	२११
यन्न व्रजन्त्यघ	३४४
यन्नाभिपद्म	३५
यन्नामानि च	४०४
यस्तां विविक्त	४२५
यस्त्वेत योधृ'तो	४०२
यस्माद्बिभेम्यहं	३२
यतोत्तानपदः	२६६
यस्य वाचा	३२४
यस्याऽनवद्या	२८८
यस्यामृतामल	४०५
यस्याऽवतार	२९
यस्याऽहं	२१४
यामाश्रत्वार	१११
यामाश्रित्येन्द्रिया	२८०
यामाहुरात्मनो	२७९
यावत्पृथक्त्व	१८
ये च मे	६९
ये तु त्वदीय	१०
ये त्वाऽनन्येन	३२२

श्लोक	पृष्ट
ये ब्राह्मणान्	४१४
येऽभ्यर्थिता	३४६
ये मे तनूर्द्विज	४१२
येषां न	२०९
येषां बिभर्म्यं	४०९
योगैर्हेमेव	३०६
योऽन्तर्हितो	३८९
यो वा अहं	३०
यो ऽविद्ययाऽनुप	३४
यंवाऽनयो	४३५
यं वै विभूति	४२५
यः सृज्य	११८
रुद्राणां रुद्रा	१५५
रूवं तवैत	२४०
रूपं यदेतद्	५
लघूनि वै	१०९
लोक संस्थान	४५
लोके तेन	३१७
लोको विकर्मं	३१
वधं भगवता	३०२
वसन्ति यत्र	३३०
वाच दुहितरं	१६४
वाविषु विद्रुम	३४२
विकारैः सहितो	१३७
विद्यादानं तपः	१७६
विद्युत्क्षिन्य	३७९
विधुन्वतो	२५३
विरञ्च्योऽपि तथा	७१
विश्वस्य यः	४४६
विश्वं के	८०
वैकारिको देवसंगः	८६
वैकृतास्त्रय	६६
वैखानसा बाल	१७७
वैमानिकाः सललना	३३३
शब्द ब्रह्मात्मनः	१८५
शश्वन्स्वरूप	२७
श्मशान चक्रा	२८५
श्वाश्रृगालो वृको	६४
श्री रूपिणी	३४०
श्रुतस्य पुंसां	२००
श्रुत्वा भागवतं	३१३
षडिमे प्राकृताः	८८
षोडश्युक्थौ	१७५
सइत्थं गृणतः	१६९
सइत्थं भगवानु	२५५
स कालः	१०७
स च स्वायम्भुवः	१९९
स चापि शतरूपायां	१९२
सत एव	१०५
सती व्यादाय	४२०
सत्वमस्या	२०७
सत्वं विधत्स्व	३२५
सनकं च	१४६
स नः प्रसीदतां	२९७
सन्ध्यांशयो	१२३
सप्तमी मुख्य	८९
सर्गोनव विधः	८२
सर्वं वेदमयेने	६३
सर्वाश्रमानु	२७८
सव्रज कूटाङ्क	२२९
सविदित्वाऽथ	२९२
सबिदित्वाऽऽत्म	२७४
स वै बत	३५३
स वै महाभागवतो	३०८
स वै रुरोद	१५०
स वै विश्व	१७३
ससर्जाग्रेऽन्ध	१४४
साधुवीर	२६५
साविश्रयं प्राजापत्यं	१७६
सृजतो मे	२१३
सोमस्तु रेतः	२४५
सोऽयं समस्त	३७
सोऽवध्यातः	१४८
सोऽसावद	४२
संप्रहस्य महा	३२७
संवत्सरः परि	११६
संस्थापयैनां	२५०
स्त्रीयाऽऽसी	१९०
स्पर्शं स्तस्या	१८४
स्त्रुक्तुण्ड आसीत	२४२
स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य	२३२
स्व सम्भवं	४४
स्वसर्गस्याऽऽशिर्ष	२९८
स्वं स्वं कालं	१२७
हसन्ति यस्या	२८९
हृदि कामो	१६२
हृदिन्द्रियाण्य	१५३
क्षुत्तृट्त्रिधातु	१६
ज्ञातोऽसिमेऽद्य	३
ज्ञातोऽह	५५
ज्ञात्वातद्धृदये	१८८

तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी अध्याय ९ से १६

कारिकानुक्रमणिका

कारिका	पृष्ठ
ॐ कारश्चार्थशब्दश्च	१८१
अतोऽत्रनवमें	२
अतो हि भगवान्	४१७
अन्नं प्रथमतः	८९
अन्यथा प्राकृती	१६५
अन्यथा भगवल्लीला	२६२
अविद्या प्रथमं	१६४
आत्मान वस्तुरूप	१४४
अज्ञानं भगवच्छक्ति	१४५
अतोभगवत	३९९
अतोहि भगवान्	४१७
आधार कथन	२६२
आधिदेविक रूपे	२२५
आध्यात्मिकास्तु	१७०
आलम्भने फले	२२४
आलस्या भाव	४६
इतिहास प्रवृत्यर्थं	३१५
ईश्वरस्पतु	४०६
उत्तमस्य तु	१६५
उभयोर्भगवत्वाय	२३८
एकादशे तु	१०१
एका भगवतो	२२६
एता वतैव	३९०
एव मुत्कर्षं	२७७
एवं द्वादशधा	१९५
कामेन क्रोध	२६१
कारणेषड् गुणाः	३०४
कालेनैवगृहोताः	६७
कीर्तिलक्ष्मीः	४०६
क्रोधो अविकाम	२६२
गद्यपद्याभि	१९६
चरित्रपरता	४७
जगतोभूतसर्गं	६७
जीव सर्गो	१
जीवानां तु	४१६
ततस्तद्भेदकल्पेषु	१९६
ततो वेदे	१४२
तन्नैच्छन्	१६५
तत्राऽपिकाम	१९७
तपो ज्ञानं	७०
तयोःस्वाभाविको	३६१
तामिस्त्रादि	१४१
दयासृष्टिर्द्वितियेति	१६५
देवाभीता	३१८
दोषतृतियो	३६१
दोषोऽप्यत्रहरेः	१४२
द्वादशार्कं समैः	२३८
द्वितीयस्योत्तरं	४८
धर्माद्वृक्षात्	२७६
न तं विदाय	१६५
नाऽन्यत्रविनियो	४८
निरूप्यते पञ्चदशे	३१५
परिभ्रमो दर्शनं	२८४
पृथिवी च जलं	१०२
पुत्रस्य कार्यं	२०३
प्रकाशक मुपादानं	१५४
प्रजापतेरुद्भूतत्वात्	१९६
प्रथमे अप्यत्र	१९७
प्रदक्षिणा नमस्कार	४३९
प्रार्थितस्य	२७७
ब्रह्म भाव:स्वतः	४१७
ब्राह्मणाति क्रमो	४१७
भक्तानाम भयं	३१८
भक्तानां तु	३९९
भगवत्करणा ल्लोके	४१७
भगवानेय हि	४१७
भूत मात्रेन्द्रियधियां	८४
भूमिस्तु देवयजन	१९६
मतान्तरे	२६२
मनसः प्रवलंत्वात्	३९९
मया तथैव	४७
महत्त्वेन प्रकारेण	८४
मात्राणि सर्वं	६७
मुनिमानस सन्तोषः	३९९
य देव भिन्नरीत्याऽत्र	२६१
यंद्याधिदैविको	१९७
यज्ञ भूमित्व	१९६
योगे लोके	३९०
रसातलान्तः	१९६
लीला कथन	१९७
लौकिकी चाऽन्य	२६१
लौकिकी मपि	१६४
लौकिकी साऽत्र	१६४
वर्णिता सर्गलीलाऽत्र	२६१
विषयः पुरुषश्च	१४४
वेदा उत्पादिता	२२५
वेदानुसारिणी	१४३
वैकुण्ठे वृक्ष	३१६
सत्य सृष्टौ	१६४
सदोषासाऽपि	१४२
समागम क्रिया युक्तस्य	२७२

कारिका पृष्ठ

समागतानां ४३९
सर्गस्थित्यन्त २६२
सर्गाश्चत्र ८४
सर्वं तो अप्युत्तमा १४२
सर्ववेदार्थ रूपो हि १९५
सर्वोहि भगवान् १०२
सात्त्विका द्विशफाः ९३
साधारणानां १४१
सायुज्ये ब्रह्मभावः ४१७
सुखे हेतुश्च ४७
सूर्यंगत्या तु १०२
सूर्यात्मकस्तु १०२
सृष्टयर्थ तस्य १९६
संसार दुःखतरणे २७७
स्त्रियः स्वभावतो ४०६
स्वप्नरछाया १६३
स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्या २१२
स्वाभाविकस्य ४७
हिरण्याक्षादि १९७
ज्ञानमार्गस्य २
ज्ञानं समर्थितं ३१८

तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी अध्याय ९ से १६

शुद्धि—पत्र

पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१३	पच्चीस	पच्चीस
१	१८	परय	पुरुषस्य
१	१९	वाद	पाद
१	१९	स्वरू	स्वरूपं
४	३०	(सत्य) हो	(सत्य) नहीं
५	१४	थदेत	यदेत
१६	४	ाते	जाते
२२	६	अचिरादि	अर्चिरादि
२३	१६	भवागन्	भगवान्
२३	१७	पमेय	प्रमेय
२४	६	निरूपणा	निरूपण
२८	१७	अक्षरूप	अक्षररूप
२८	२९	सूचिन	सूचित
२९	११	गुणकर्मा	गुणकर्म
३०	१	नमन	नमन
३१	१	मरच्चियादि	मरीश्च दि
३२	२	भीवन	जीवन
३२	२६	यद्यादि	यद्यपि
३३	११	कृतयेतु	कृतसेतु
३५	२२	काय	कार्यं
३६	३१	(योग निद्र)	(योगनिद्रा)
३७	२२	ज्ञान पुवक	ज्ञानपूर्वक
३७	२७	स्पर्थ	स्पयामक
४१	१२	प्राथना	प्रगिथि
४१	१९	अथान्	अर्थात्
४१	२९	बहले	बदले
४३	५	प्राथना	प्रार्थना
४५	३	देख देखा	देखा
४७	३	आदय	आशय
५०	२४	होने लिये के	होने के लिये
५०	२५	समभगे	समभोगे
५०	२६	भातर	भीतर
५१	३	ब्रमन्	बह्यन्
६१	२२	इच्द्याति	इच्छति
६२	६	प्रेष्ठ	प्रेष्टः
६२	२८	सफल	सकल
६४	२१	सामथ्य	सामर्थ्य
६७	२०	निर्मिता	निर्मिता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०	३०	आलाचना	आलोवना
७४	२४	भगवत्क्रम	भगवत्कर्म
७६	३०	—	जानेयोग्य
७९	३०	बनाय	बनाया
८१	२६	उपादाक	उपादान
९०	१९	कीये	किये
९२	५	विशाद्विधो	विश्द्विधो
९४	२	नो	तो
९९	९	तनीय	तृतीय
९९	२१	अपन	अपने
१००	८	इद्रां	इन्द्री
१००	१४	कगीज	करीजे
१०७	२२	भुड़क्त	भुङ्क्ते
१०९	९	वितुः	विदुः
११३	२०	मस	मास
११४	१८	थ्यादा	ज्यादा
११८	९	स्वशक्या	स्वशक्त्या
१२२	१८	निश्चित	निन्दित
१२२	२९	ब्यवघात	व्यवधान
१२४	१४	धम	धर्म
१२५	२	घर्है	धर्मं
१२६	२२	क्याकि	क्योंकि
१२६	२४	प्रवृत	प्रवृत्ति
१२९	१७	पडिसंरुद्ध	प्रतिसंरुद्ध
१३१	१०	ज्योतिश्वचक्र	ज्योतिश्चक्र
१४४	१५	ज्ञानः	ज्ञाने
१४४	२६	अन्युक्रयश्चें	अत्युत्कटश्चे
१४४	२६	स्टष्टिन	सृष्टिनं
१४८	२४	इनका	इनको
१५१	२७	एक ही ाथ	एक ही था
१५३	५	स्तमश्चेव	स्तपश्चेव
१५४	५	कारणं	प्रकाशकमुपादानं करणं
१५४	२६	प्रज	प्रजा
१५५	२६	प्रजापत	प्रजापति
१५६	६	अल	अलं
१५६	७	भया	मया
१५८	१३	मंत्रेपजी	मैत्रेयजी
१५८	१६	दनम्	वनम्
१५९	५	भगवत्छक्ति	भगवच्छक्ति
१६३	१९	स्वप्नश्रद्वाया	स्वप्नच्छाया
१६७	२५	आचारण	आचरण
१७१	२२	पडतो	पड़ता
१७५	१०	वादपेयं सगोसयम	वाजपेयं सगोसवम्
१७९	१७	काल काल	काल का
१८१	३	ब्रह्मजर्यादि	ब्रह्मचर्यादि
१८२	९	अत्मविद्या	आत्मविद्या
१८७	२५	ऋसीणां	ऋषीणां
१८८	१९	क्षत्वात	ज्ञात्वात
१८९	१२	पड़े	रहे
१९१	२८	अज्ञादि	आज्ञादि
१९७	१६	यद्याधि दैमिको	यद्याधिदैविको
१९७	२४	प्रथम ऽप्यत्र	प्रथमे ऽप्यत्र
२०१	३३	भगवाम	भगवान्
२०२	८	श्चरणोपधानम्	श्चरणोपधानम्
२०३	२	ज्ञनो	ज्ञानी
२०३	१२	वेदगर्मं	वेदगर्भं
२०६	१९	ग्र्यर्पण	अर्पण
२०६	२७	शत्तायऽप्र	शक्त्याऽप्र
२०७	१३	जिसने	जिससे
२०८	१६	हाने	होने
२११	७	पृथ्की	पृथ्वी
२१२	२५	धिरम्	चिरम्
२१६	९	निष्पाय	निष्पाप
२१९	२३	अनुपनीत	अनुपवीत
२२२	१३	मर्गं	मार्गं
२२३	२१	प्रघोष	प्रघोष
२२५	१३	लिए प्र. कठ	लिये प्रकट
२२५	१५	लोक	लोकों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२७	१९	हाकर	होकर
२३२	३	भगवन्	भगवात्
२३७	२०	तत्पर्यं	तात्पर्यं
२३९	२५	पदर्थों	पदार्थों
२४१	२६	युर्ज्ञेय	दुर्ज्ञेय
२४२	३	धृत	घृत
२४२	४	धृत	धृत
२४२	१५	धृत	घृत
२४४	१८	शिरोघर	शिरोधर
२४५	४	दशपूरण	दर्शंपूर्णं
३४५	९	अमं	अर्थं
३४५	३०	सन	सबने
२४६	१४	समस्ते	नमस्ते
२४८	३०	असन	आसन
२५१	१८	लसृजेऽति	ससृजेऽति
२५३	२	वमृजंनस्तव:	वपुजनस्तप:
२५३	२८	भरवन्	भगवन्
२५४	२३	(सबल)	(सबूत)
२५४	२	असाम	असीम
२५५	३	दटा	दया
२५७	३१	प्रहोजन	प्रयोजन
२५८	१०	दुलंस	दुर्लभ
२५८	१५	मुखामाम	सुखाभास
२५८	२४	महाफख	महाफल
२५८	२८	भगवत्कथ मुधाम	भगवत्त्कथा सुधाम्
२५९	३१	(बदर)	(बन्दर)
२६१	१३	अर्णन	वर्णन
२६४	३	।।२।।	×
२७२	१२	हा	हो
२७४	१२	असग	अलग
२८०	१३	सितरा श्रमैः	नितराश्रमैः
२८१	३	जाता	जाती
२८२	१४	मुहंत	मुहुर्त
२८२	२१	जिसमें	जिमे मैं
२८३	२५	सकत	सकता
२८३	२७	ऽधिष्ठत्री	ऽधिष्ठात्री
२८५	१३	भस्मावगुब्ठा	भस्मावगुण्ठा
२८६	२३	उज्जवल	उज्वल
२८७	४	सभ्बन्ध	सम्बंध
२८७	२४	अतः से	अतः उनसे
२८८	२०	कोति	कोटि
२८९	८	निवृत्र	निवृत्त
२९०	११	चन्दानादि	चन्दनादि
२९०	२०	विशाचचर्या	पिशाचचर्या
२९०	२४	आज्ञाकारी	आज्ञाकरी
२९०	२८	विशाच	पिशाच
२९१	८	ब्रह्मा	ब्रह्मा
२९३	९	वांस्ताह	वांस्तदाह
२९५	८	पतिंहि	पतिंहि (?)
३०१	९	जतुष्टये	चतुष्ठये
३०२	२२	कराव	करावे
३०३	१५	दृग्ध	दग्ध
३१०	१५	वाली	वाला
३११	१३	भातर	भीतर
३१२	२९	मोक्षदालता	मोक्षदाता
३१३	२८	भद्भागवत	मद्भागवत
३१७	२७	फल	फैल
३१८	४	समर्य	समर्थं
३१८	११	समर्पित	समर्थित
३२२	३	अत्व्यक्त	अव्यक्त
३२३	२	(सवभव)	(सर्वभाव)
३२३	१०	सवभाव	सर्वभाव
३२५	४	३	२
३२५	१०	भगवदाताज्ञा	भगवदाज्ञा
३२५	१०	ब्रह्मा क	ब्रह्मा को
३२६	२४	दिनी	दिति
३३०	२	साक्षत	साक्षात
३३०	१८	वैकुण्ठ	वैकुण्ठ
३३१	१९	अने	अपने
३३२	२२	सोक	लोक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल, (रजिस्टर्ड)
जोधपुर (राजस्थान)